अंक–01, जनवरी 2019

गुरु-दर्शन

राजभाषा प्रकोष्ठ
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ० ग०)
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)

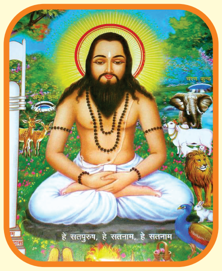

विश्वविद्यालय कुलगीत

गुरू कृपा के पुण्य परस से, विद्या का वरदान है।
घासीदास विश्वविद्यालय, हम सब का अभिमान है।
महानदी, शिवनाथ, नर्मदा, हसदो, पावन धारा है।
अंतःसलिला अरपा का, सतत् प्रवाह हमारा है।
छत्तीसगढ़ की माटी का, यह अभिषेक महान् है।
भोरमदेव, सरगुजा, शिवरी, रतनपुर, मल्हार यहीं।
कालीदास का आम्रकूट है, अमर काव्य श्रृंगार यहीं।
धरती, गगन, सघन वन गूंजे, जीवन का नवगान है।
शस्य श्यामला धरती है, खेतों में हरियाली है।
नये भगीरथ कोरबा जैसी, लोक–शक्ति की लाली है।
जाग उठे हैं गांव हमारे, जागे सभी किसान हैं।
ज्ञान सभ्यता से आलोकित, विद्वत्जन सम्मान यहां।
माधव, लोचन, मुकुटधर पाण्डेय, बख्शी जी अरू भानु यहां।
राव, विप्र, रविशंकर, छेदी, कुंवर वीर का गान है।
मानव मूल्यों का सृजन करें हम, समता, ममता, शांति भरे।
हर्षित, पुलकित हो भारत मां, सुख– समृद्धि सर्वत्र झरे।
विद्या–मंदिर के प्रांगण से, नव–युग का अभिमान है।
गुरू कृपा के पुण्य परस से ....

(यह कुलगीत प्रसिद्ध राजनेता, साहित्यकार एवं कवि स्वर्गीय
पं. राजेन्द्र प्रसाद शुक्ल, प्रथम अध्यक्ष, छत्तीसगढ़ विधानसभा द्वारा रचित है।)

गुरु–दर्शन

(राजभाषा प्रकोष्ठ की वार्षिक पत्रिका)

संरक्षक

प्रो. अंजिला गुप्ता

कुलपति

मार्गदर्शक

प्रो. शैलेन्द्र कुमार

कुलसचिव

मुख्य सम्पादक

अखिलेश तिवारी

हिंदी अधिकारी

सम्पादक मण्डल

डॉ. सीमा पाण्डेय

डॉ. घनश्याम दुबे

डॉ. एस.एस.ठाकुर

डॉ. रमेश कुमार गोहे

डॉ. अनामिका तिवारी

संतोष कुमार त्रिपाठी

राजभाषा प्रकोष्ठ

गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)

(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)

दूरभाष : (07752) 260473

ई–मेल–rajbhashacellggu@gmail.com

गुरु - दर्शन

दर्शन का संबंध साक्षात्कार से है। साक्षात्कार के व्यापक संदर्भों में से एक आत्म साक्षात्कार भी है। आत्म साक्षात्कार का संबंध सीखने या जानने से है। हमारे सीखने या जानने के जो भी स्रोत हैं, उन्हें हम गुरु रुप में स्वीकार करते हैं। मनुष्य प्रकृति में सीखने या जानने का सबसे उत्सुक प्रतीक है। उसने अपना समस्त ज्ञान प्रकृति से ही अनुभूत कर अर्जित किया है। सहजता ज्ञान का प्रमुख उपादेय है। समता के बीज इसी में सन्निहित हैं। ज्ञान 'स्व' से परे 'पर' की स्वीकारोक्ति देता है। यह 'पर' का स्वीकार ही हमें संवेदनशील बनाता है। और सत्य के अधिक निकट ले जाता है। अठारहवीं सदी के महान संत एवं सतनाम पंथ के प्रवर्तक गुरु घासीदास जी, जिनके नाम पर यह विश्वविद्यालय स्थापित है, ने अपनी अमृतवाणी में इसी समता और सत का संदेश दिया है। आवरण चित्र के माध्यम से गुरु घासीदास जी के संदेशों के अनुरुप समता और सत्य के प्रकाश को मनुष्य द्वारा स्वीकार करते हुये उसे ज्ञान के माध्यम से अधिक मानवीय, सहज एवं सत्यनिष्ठ होने के प्रतीक रुप में दर्शाया गया है।

(आवरण पृष्ठ की साज–सज्जा विश्वविद्यालय की टीम उड़ान–8 के छात्र–छात्राओं ने की है।)

माननीय श्री प्रकाश जावड़ेकर, (केन्द्रीय मंत्री, मानव संसाधन विकास, भारत सरकार) का हिंदी दिवस पर प्रसारित संदेश

प्रिय साथियों,

'हिन्दी दिवस' के अवसर पर आप सब को मेरी हार्दिक शुभकामनाएं।

स्वतंत्र भारत की संविधान सभा ने सर्वसम्मति से 14 सितंबर, 1949 को यह निर्णय लिया था कि संघ की राजभाषा हिन्दी और लिपि देवनागरी होगी। इसी परिप्रेक्ष्य में 14 सितम्बर को हिन्दी दिवस के रूप में मनाने की परंपरा शुरू हुई।

इसमें कोई दो राय नहीं है कि हिन्दी एक समृद्ध भाषा है और भारत की राष्ट्रीय सांस्कृतिक एकता की कड़ी है। भारत के कोने–कोने में इसे समझने और बोलने वाले हैं। हिन्दी सभी को एक सूत्र में बांधे हुए है। वैश्विक स्तर पर भी हिन्दी को अब किसी परिचय की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी भाषा के महत्व को अब पूरा विश्व मानने लगा है। आज विश्व के अनेक देशों में विश्वविद्यालय स्तर पर हिन्दी पढ़ाई जाने लगी है। प्रत्येक वर्ष अनेक विदेशी छात्र/छात्राएं भारत में हिन्दी पढ़ने के लिए आने लगे हैं। यह हिन्दी भाषा के महत्व को दर्शाता है। जहाँ तक सरकारी कामकाज में इसके प्रयोग का संबंध है, हमें अपने अंतःमन में ऐसा निश्चय करना होगा और अपना कर्तव्य मानना होगा कि सरकारी कामकाज में हिन्दी का प्रयोग करने के लिए किसी संकल्प की आवश्यकता न पड़े।

आज विश्व हमारे देश को एक उभरती हुई विश्व शक्ति के रूप में देख रहा है। यह सपना तभी साकार कर सकते हैं, जब हम राजभाषा हिन्दी को ज्ञान–विज्ञान, अर्थव्यवस्था, सूचना प्रौद्योगिकी आदि सभी क्षेत्रों से जोड़ें और इन क्षेत्रों के लाभ जन–जन तक पहुंचे। हालांकि हमने ज्ञान–विज्ञान के साथ–साथ भाषा के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की है, लेकिन हम सभी को हिन्दी के साथ–साथ अन्य भारतीय भाषाओं के महत्व को भी समझना होगा, उन्हें साथ लेकर चलना होगा। भारतीय भाषाओं के शब्दों को अपनाकर हिन्दी को विकसित कर आम बोलचाल की हिन्दी का प्रयोग करना होगा। हमें यह भी प्रयास करने चाहिए कि रोजमर्रा का छोटा–मोटा सरकारी कामकाज मूलतः हिन्दी में हो और अनुवाद कराने की आवश्यकता कम पड़े।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय और उसके अंतर्गत आने वाले सभी कार्यालयों में कार्यरत अधिकारियों/कर्मचारियों से मैं अपील करता हूं कि 'हिन्दी दिवस' के अवसर पर हम सब यह संकल्प लें कि राजभाषा विभाग द्वारा सरकारी कार्यालयों के लिए निर्धारित लक्ष्यों को शत–प्रतिशत अनुपालन सुनिश्चित करते हुए अपना सरकारी कामकाज सरल एवं सुबोध हिन्दी में करेंगे।

पुनः शुभकामनाएं।

(प्रकाश जावड़ेकर)

संदेश

भारत सरकार की राजभाषा नीति के अंतर्गत प्रेरणा व प्रोत्साहन के माध्यम से शासन के प्रत्येक कार्य में हिन्दी का प्रगामी प्रयोग सुनिश्चित करने के प्रावधान किए गए हैं। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के परिप्रेक्ष्य में देखा जाय, तो पूरे राष्ट्र को एकता के सूत्र में पिरोने में हिन्दी की भूमिका अहम रही है। हिन्दी तो अपनी कोमलता और सुदृढ़ता से पूरे जनमानस को अपने बहुरंगी चेतना के बल पर विविधता में एकता का आभास दिलाती है। देश के बहुसंख्य जनमानस में प्रचलित यह भाषा सरस, सरल, सुबोध एवं पूरी तरह वैज्ञानिक होने के कारण इसका तेजी से विकास एवं विस्तार हो रहा है।

गुरु घासीदास विश्वविद्यालय के लगभग शत प्रतिशत अधिकारियों एवं कर्मचारियों को हिन्दी का कार्यसाधक ज्ञान है। संविधान के अनुच्छेद 351 में उल्लेख किया गया है कि हमें ऐसी हिन्दी का विकास करना चाहिए, जो भारत की सम सामयिक संस्कृति की अभिव्यक्ति का माध्यम बनकर कार्य करें।

इसी दिशा में आगे बढ़ते हुए विश्वविद्यालय के राजभाषा प्रकोष्ठ द्वारा हिन्दी की पत्रिका **'गुरु–दर्शन'** का प्रकाशन आरंभ करना एक सराहनीय कार्य है। इससे विश्वविद्यालय परिवार के सभी सदस्यों को जो रचना धर्मी हैं, प्रोत्साहन मिलेगा एवं अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए मंच भी मिलेगा। मैं पत्रिका के सफल प्रकाशन की शुभकामनाओं सहित इस पत्रिका की सतत् प्रवाहशील प्रगति के लिए प्रकाशन से जुड़े सभी लोगों को बधाई एवं शुभकामनाएँ देती हूँ।

(प्रोफेसर अंजिला गुप्ता)
कुलपति
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय,
बिलासपुर (छ.ग.)

संदेश

किसी भी देश की राजभाषा उसके देशवासियों के लिए दिल और दिमाग के जितने नजदीक होगी, उतना ही वह अपना स्थान उनके हृदय में बनाएगी और इसी से राजभाषा का अस्तित्व अर्थपूर्ण एवं अक्षुण्ण रहेगा। वर्तमान में प्रचार–प्रसार के तमाम माध्यमों के होते हुए भी हिन्दी की स्थिति जहाँ नाजुक है वहीं विशिष्ट भी है और यह विशिष्टता ही उसका बल है।

आज राजभाषा कार्यालयीन कामकाज की भाषा ही नहीं, बल्कि देश के कोने–कोने में आसानी से बोली एवं समझी जाने वाली जनसंपर्क की भाषा बन चुकी है। बदलते संदर्भों में सोशल मीडिया में ''देवनागरी'' का प्रयोग बहुत ज्यादा हो रहा है। जिससे हर हिन्दुस्तानी आपस में और भी ज्यादा जुड़ रहा है।

14 सितम्बर 1949 को संविधान सभा द्वारा देवनागरी लिपि में हिन्दी भाषा को भारतीय संघ सरकार की काम–काज की शासकीय भाषा अर्थात् राजभाषा के रूप में अंगीकार किया गया था। हम सब की सामूहिक जिम्मेदारी है कि संविधान की भावनाओं के अनुरूप दैनिक कार्य में राजभाषा हिन्दी का अधिकाधिक प्रयोग किया जाय।

यह प्रसन्नता का विषय है कि विश्वविद्यालय के राजभाषा प्रकोष्ठ द्वारा हिन्दी की पत्रिका **'गुरु–दर्शन'** का प्रकाशन किया जा रहा है। पत्रिका के सफल प्रकाशन की मंगलकामनाओं के साथ ही मैं पत्रिका के प्रकाशन से संबद्ध सभी अधिकारियों एवं कर्मचारियों को बधाई एवं शुभकामनाएँ देता हूँ।

(प्रो. शैलेन्द्र कुमार)
कुलसचिव
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय,
बिलासपुर (छ.ग.)

संपादकीय

गत वर्ष 15 अगस्त, 2018 को हमने आजादी की 71 वीं वर्षगांठ मनाई। करीब दो सौ वर्षों की गुलामी के बाद हमें सन् 1947 को आजादी मिली। आजादी के 71 वर्षों बाद भी हम एक विदेशी भाषा के पिछलग्गू बने हुए हैं। अंग्रेज चले गये, पर अंग्रेजियत अभी भी हमारे दिलो–दिमाग पर हावी है। आजादी की लड़ाई में अहम सूत्रधार रही हिन्दी आज स्वयं अपने अस्तित्व की लड़ाई लड़ रही है। हिन्दी की पढ़ाई करने वाले छात्रों की संख्या दिन–ब–दिन घटती जा रही है। इसका मुख्य कारण हमारे समाज की मानसिकता है। आम धारणा है कि अंग्रेजी माध्यम में ही पढ़ाई करके बड़ा पद, ऊंचा ओहदा हासिल किया जा सकता है। हिन्दी को बचाने के लिए हमें हर साल हिन्दी दिवस, हिन्दी सप्ताह, हिन्दी पखवाड़ा मनाना पड़ता है। भारत विश्व का एक मात्र ऐसा देश है, जहां उसकी जुबान का दिवस मनाया जाता है। सवाल इस बात का है कि क्या दिवस, सप्ताह या पखवाड़ा मना कर समाज की मानसिकता बदली जा सकती है।

एक ओर जहाँ हम विदेशी भाषा के पीछे भाग रहे हैं, वहीं विदेशों में हिन्दी बोलने वालों की संख्या लगातार बढ़ रही है। हिन्दी भाषा के महत्व को अब पूरा विश्व मानने लगा है। संयुक्त राज्य अमेरिका में 6,48,983, मॉरीशस में 6,32,760, युगांडा में 1,47,000, सिंगापुर में 5,000, नेपाल में करीब 8 लाख, न्यूजीलैण्ड में 20,000, जर्मनी में करीब 30,000 लोग हिन्दी बोलते हैं। '' विश्व के 20 से ज्यादा देशों में हिन्दी भाषा का इस्तेमाल इस भाषा की बढ़ती लोकप्रियता का परिचायक है। हमारे देश में अभी भी लोग मानते हैं कि अंग्रेजी सीखे बिना कोई देश तरक्की नहीं कर सकता, जबकि जापान, चीन, फ्रांस, जर्मनी जैसे विकसित देश अपनी भाषा में अध्ययन–अध्यापन से तरक्की कर रहे हैं। इन देशों में अंग्रेजी को बिल्कुल भी अहमियत नहीं दी जाती।

गुरु घासीदास विश्वविद्यालय में हिन्दी लेखन को प्रोत्साहित करने के लिए राजभाषा प्रकोष्ठ ने वार्षिक पत्रिका **'गुरु–दर्शन'** प्रारम्भ किया है। इस पत्रिका का पहला अंक आपके हाथों में है। यह विश्वविद्यालय के हिन्दी प्रेमी शिक्षकों, अधिकारियों एवं कर्मचारियों को मंच देने का प्रयास है। इस पत्रिका में जहां छत्तीसगढ़ की माटी की सोंधी खुशबू है, वहीं दूसरी ओर प्रवासी और अप्रवासी पंछियों की रोचक एवं ज्ञानवर्धक जानकारी। भाषा विज्ञानी डॉ. चितरंजन कर के आमंत्रित लेख ने लोक साहित्य के मर्म को स्पर्श किया है।

उम्मीद है कि राजभाषा प्रकोष्ठ की पत्रिका **'गुरु–दर्शन'** का यह पहला अंक आप सभी को पसंद आएगा। आगामी अंक को और अधिक रूचिकर और उपयोगी बनाने के लिए आपके सुझावों का स्वागत है।

(अखिलेश तिवारी)
मुख्य संपादक एवं हिन्दी अधिकारी

अनुक्रमणिका

क्र	रचना	विधा	रचनाकार	पृष्ठ
1.	लोक साहित्य की प्रासंगिकता	लेख (आमंत्रित)	डॉ.चितरंजन कर	8-12
2.	हिंदी भाषा एवं सांस्कृतिक एकता	लेख	प्रो.मनीष श्रीवास्तव	13-15
3.	दास्ताने जिंदगी	कविता	प्रो.हरीश कुमार	16
4.	वि.वि. परिसर पंछियों का आशियाना	लेख	डॉ.सीमा राय	17-19
5.	फर्क	कविता	गुरू सरन लाल	20
6.	हिंदी, अंगरेजी और हिंगलिशः एक विमर्श	लेख	विनोद कुमार शर्मा	25-28
7.	कबीर की भाषाः अनुभूति और व्यंजना	लेख	डॉ. राजेश मिश्र	29-33
8.	राजभाषा हिंदी	कविता	डॉ.अनामिका तिवारी	34
9.	छत्तीसगढ़ में पर्यटन	लेख	डॉ. सीमा पाण्डेय	35-37
10.	परीक्षा की इस कठिन घड़ी में	कविता	मुरली मनोहर सिंह	38
11.	व्यक्तिगत स्वातंत्र्य एवं सामाजिक दायित्व	लेख	डॉ. संतोष सिंह ठाकुर	39-40
12.	गुब्बारे	कविता	डॉ. रमेश कुमार गोहे	41-42
13.	अपना घर	कविता	डॉ.मनीषा विजयवर्गीय	43-44

लोक साहित्य की प्रासंगिकता

'लोक साहित्य' लोक सामंजस्य का वाचिक अनुष्ठान है, जिसमें तथाकथित 'शिष्ट' और 'अशिष्ट'–जैसी भेद–दृष्टि कदापि नहीं होती। 'साहित्य' सामंजस्य है–शब्द–शब्द में, शब्द–अर्थ में, अर्थ–अर्थ में, मनुष्य–मनुष्य में, मनुष्य–मनुष्येतर में, देश–काल में। 'लोक' की धारणा भी अत्यंत व्यापक है, जिसमें संपूर्ण ब्रह्मांड समाहित हो जाता है। इस संबंध में विद्यानिवास मिश्र ने तीन व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं। '' लोक का एक अर्थ है, जो दिखाई पड़े, अर्थात जो इंद्रियों के अनुभव का विषय बने, जिसे हम देख सकते हैं, सुन सकते है, चख सकते हैं, छू सकते हैं, सूंघ सकते हैं, वह सब लोक है। इस लोक में मनुष्य भी आते हैं, दूसरे प्राणी भी और सभी लौकिक पदार्थ भी। ''1'' लोक का दूसरा अर्थ है खुलापन, प्रकाशित होना, कुछ छिपा न होना, इसलिए सबका होना, किसी एक का न होना। ''2''लोक का तीसरा अर्थ है शताब्दियों से चला आ रहा जीवन का, चिंतन का, वचन का प्रकार। '' 3

तो लोक साहित्य वह है, जो लोक भाषा में रचा–बुना होता है तथा जिसमें किसी एक व्यक्ति या वर्ग की नहीं, पूरे समुदाय की प्रतिभागिता होती है। लोकभाषा अर्थात बोली– जो बोली जाए या व्यवहार में आए। तथाकथित 'भाषा' और 'बोली' में अंतर क्षेत्र–विस्तार और प्रयोजनीयता को लेकर भले ही मान्य हो, परन्तु प्रत्येक भाषा अपने व्यावहारिक रूप में बोली ही होती है, जिसमें अंचल एवं काल–विशेषण की रीतियां एवं प्रवृत्तियां स्पष्टतया प्रतिबिंबित होती हैं। अपने मूल रूप में भाषा प्रथमतः बोली ही है। जब कबीर यह कहते हैं– 'कबिरा संस्कृत कूपजल भासा बहता नीर '' तब उनका 'भासा' (भाषा) से आशय बोली ही है और 'संस्कृत' से आशय 'परिनिष्ठित'या 'शुद्ध' है।

भूमंडलीकरण और आधुनिकीकरण के इस दौर में लोक साहित्य की प्रासंगिकता पर चिंतन–मनन युक्तिसंगत है, क्योंकि जो लोक साहित्य वाचिक परंपरा में पीढ़ी–दर–पीढ़ी न केवल सुरक्षित रहता आया है, वरन् उसमें लोक की प्रत्यक्ष भागीदारी रही है, वह आज यांत्रिकीकरण की यंत्रणा का शिकार हो गया है। छत्तीसगढ़ हो अथवा कोई अन्य अंचल, जहाँ लोक रात–रात भर नाचा, गम्मत, नौटंकी, आल्हा, भरथरी, पंडवानी, चँदैनी का आनंद हर मौसम में लिया करते थे, वह अब सी.डी., पेनड्राइव में कैद हो कर व्यक्तिगत आमोद–प्रमोद की वस्तु बन गया है। फलस्वरूप लोक साहित्य, लोक संस्कृति, लोककला, लोकतंत्र अथवा लोक से जुड़ा हुआ प्रत्येक सरोकार आज एक 'फैशन' से अधिक कोई अधिक महत्वपूर्ण प्रयोजन सिद्ध नहीं कर पा रहा है। अस्तु, परिवर्तन प्रकृति का नियम है, अतः मानव की सारी चेष्टाएँ भी किसी न किसी रूप में सापेक्षता लिए होती हैं– मानव की मूल चेतना कभी पूर्णतः लुप्त नहीं हो पाती। यह मूल चेतना है सामूहिकता। ''कलाओं के उद्भव और विकास का पहला चरण लोक भावना और सामुदायिक चेतना से अनुप्राणित रहा। कला के सृजन और उपभोग दोनों में सामुदायिक भावना स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती थी। समूह मिल–जुल कर गाता और नाचता था। हजारों वर्षों तक सीमित संख्या के

अभिप्रायों (मोटिव्स) वाली लोककथाओं ने बच्चों की कई पीढ़ियों का मनोरंजन और ज्ञानवर्धन किया। ये लोक कथाएँ पूरे समुदाय की होती थीं, उन पर किसी परिवार अथवा समूह–विशेष का एकाधिकार नहीं होता था। समुदाय के मिथक उस का इतिहास और दर्शन होते थे, लोक जीवन–दृष्टि इन में अभिव्यक्ति पाती थी। ... कलाकार और श्रोता अथवा दर्शक का अंतर स्पष्ट नहीं था, दोनों की भूमिकाएँ मिली-जुली होती थीं। एक ही व्यक्ति कभी गायक या नर्तक होता था, तो कभी वह दर्शक बन जाता था। गायन, नृत्य, कहानी कहने अथवा चित्रांकन की क्षमताओं में अंतर अवश्य होता था, किन्तु इन क्षेत्रों में विशेषज्ञता विकसित नहीं हुई थी। विभिन्न कला–रूपों के संबंध में समूह के प्रत्येक व्यक्ति को जानकारी होती थी और वे थोड़ा–बहुत अंतर से उनमें सहभागी बन सकते थे। सामाजिक संरचना में जटिलता आने के बाद कलाओं में भी विशेषीकरण आरंभ हुआ, किन्तु लंबे समय तक उनमें सामूहिकता के तत्व बने रहे और थोड़े–बहुत परिवर्तन के साथ आज भी बने हुए हैं।''[4]

मानव सभ्यता और संस्कृति के उद्‌भव और विकास की तथाकथा लोक साहित्य की आंतरिकता है। ''......... मनुष्य की आदिम अवस्था से जुड़ी प्रवृत्तियों और वासनाओं की एक अंतर्व्याप्त प्रेरणा लोक साहित्य के सृजन के पीछे बराबर ही क्रियाशील रही है।''[5] ज्ञान–विज्ञान के साथ–साथ लोक का विस्तार भले ही होता रहेगा, परन्तु लोक साहित्य की प्रासंगिकता पर कोई प्रश्नचिह्न संभवतः नहीं लगना चाहिए, क्योंकि लोक साहित्य में सहस्त्रों वर्षों की परंपरा सांस लेती है और वह जीवन के हर प्रसंग में सह–अस्तित्व एवं सह–अनुभूति का अजस्र स्रोत है। उदाहरणार्थ, जन्म, नामकरण, विवाह, आदि संस्कारों के अवसर पर गाए जाने वाले गीतों में यत्किंचित् आंचलिकताजन्य भिन्नता भले ही हो, परन्तु उन में मूलभूत समानता मिलती है। लोकगीतों, लोककथाओं, लोकनाटयों का अंत सुखात्मक है, जिसमें सत्य और न्याय की विजय दर्शाई जाती है।''[6]

साहित्य मौलिक होता है। ' मौलिक' का अर्थ ' नया ' कदापि नहीं होता। मौलिक अर्थात् मूल से जुड़ा हुआ। अर्थात प्रत्येक काल या क्षेत्र में व्यक्ति–विशेष के द्वारा रचित साहित्य का मूल पूर्ववर्ती साहित्य में होता है। हिंदी साहित्य की विकास रेखा का सही आकलन लोक साहित्य के संदर्भ के बिना कदापि पूर्ण या उपयुक्त नहीं हो सकता। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की स्पष्ट मान्यता है कि ''................'सूरसागर' शास्त्रीय वैष्णव भक्तिशास्त्र से प्रेरणा अवश्य लेता है, पर शास्त्रीय की अपेक्षा लोकधर्म के अधिक निकट है। उसकी भाषा, विचार–सरणि शास्त्रीय विश्लेषण की अपेक्षा लोक व्यवहार के बहुत निकट पर्यवेक्षण से अधिक प्रभावित है। हिंदी प्रदेश के लोकगीतों में वैष्णव भक्ति तथा श्रीकृष्णलीला का प्रवेश महाप्रभु वल्लभाचार्य से बहुत पहले ही चुका था। वर्षों पहले आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने अनुमान किया था कि ' सूरसागर ' के पद किसी पुरानी लोक परंपरा के गीतों का मार्जित रूप है। ''[7]

साहित्य पैदा तो होता है लोक में ही, परन्तु वह अपना भी एक लोक गढ़ता है। ऐसा लोक, जहाँ सब कुछ अच्छा हो, सुंदर हो, शिव हो। स्पष्ट है कि साहित्यकार के सामने सब

कुछ अच्छा कदापि नहीं होता। साहित्य वस्तुतः टूटे हुए दर्पण में अपने चेहरे को विकृत देख कर भी उसे बचाने की सतत चेष्टा है। वह, हरिवंशराय बच्चन के शब्दों में, गंगा में रहकर उसी के जल से उसको अर्ध्य प्रदान करना है। गंगा यहाँ लोकभाषा, लोकसंस्कृति, लोकजीवन, लोकशैली, आदि का नाम है, जिसके बिना कोई भी रचना शाश्वत नहीं होती। रामकथा को लोकभाषा में रचकर ही तुलसीदास, तुलसीदास हुए। साहित्य अकादमी पुरस्कार प्राप्त करते समय अरूण कमल ने अपने वक्तव्य में कहा था–'' जब मैने लिखना शुरू किया, तब मुझे लगा कि हमारी कविता में आसपास का जीवन और बोली बहुत कम है। यह वह समय था, जब हिंदी में वक्तव्य–प्रधान कविताएं लिखी जा रही थीं। जीवन–प्रसंग कम आते थे। दैनंदिन जीवन के बिंब बहुत कम थे। भाषा बहुत दूर की लगती थी, गढ़ी हुई और सपाट, वैसी जैसे कोई नहीं बोलता।..... इसी तरह मुझे लगा कि जो कविता मैं पढ़ रहा हूँ, वह मुझे अस्वाभाविक लगती है, वैसे ही जैसे कोई अपनी माँ को '' माताश्री'' कहकर पुकारे। एक दूरी का एहसास हमेशा होता रहा। तब मैने सोचा कि मुझे वैसे ही लिखना चाहिए, जैसे लोग बोलते हैं। और तब मैंने अपनी भाषा के लगातार चलने वाले विराट प्रीतिभोज को देखा। इतनी बोलियाँ, इतने स्वर, इतने व्यंजन। और अनामंत्रित इस विराट प्रीतिभोज के जूठन और गिरे हुए टुकड़े उठाता मैं वहीं खड़ा रहा। यही तो मेरा सर्वस्व है। मैंने अपनी बोली भोजपुरी के शब्दों को ज्यों का त्यों उठाया उन मुहावरों को, उन स्वर–भंगिमाओं को, यहाँ तक कि सांस की, भाव की आवाज को भी। इस तरह मैंने अपनी कविता की गृहस्थी जमाई।– ''सब उधार का माँगा–चाहा/नमक–तेल, हींग–हल्दी तक/ सब कर्जे का/ यह शरीर भी उनका बंधक/ अपना क्या है इस जीवन में/ सब तो लिया उधार/सारा लोहा उन लोगों का/अपनी केवल धार। ''[8]

कहने का तात्पर्य यह है कि लोक से ही साहित्य जनमता है और जहाँ तक प्रासंगिकता का प्रश्न है, '' प्रासंगिकता की जाँच का तरीका तथाकथित सामाजिक पैमाना है। सामाजिक यथार्थ है। सामाजिक परिवर्तनशीलता है। इस पैमाने से लोग नापते हैं और आज का पैमाना आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व पर लागू करते हैं, जबकि साहित्य का पैमाना एक दग्धचित्त प्रकार का पैमाना है। अपने समय में बनता ही नहीं यह। जिस समय साहित्य रचा जाता है, उसका पैमाना नहीं बनता। पैमाने को तोड़कर ही साहित्य बनता है।''[9] इस कथन के आलोक में लोक साहित्य की प्रासंगिकता के बारे में कदापि शंका नहीं होनी चाहिए, क्योंकि साहित्य अपने पूर्ववर्ती साहित्य के संदर्भ में ही लिखा जाता है। परवर्ती साहित्य में पूर्ववर्ती की गूँज तो अवश्य होगी। '[10]

साहित्य में लोक की भूमिका केवल रचना तक नहीं, उसके आस्वादन में भी लोक की सहभागिता अनिवार्य है। भारतीय काव्यशास्त्र में ' सहृदय' की परिकल्पना के मूल में यही धारणा रही है। कविता, कहानी, नाटक, निबंध आदि किसी भी विधा की बात करें, वह अंततोगत्वा सहृदयसापेक्ष एवं सहृदय संवेद्य होकर ही चरितार्थ होती है। भाषा का संस्कार भी लोक साहित्य या पूर्ववर्ती साहित्य से संभव है। ''.... कविता किन्हीं पूर्व निर्धारित ढाँचों का अनुकरण न होकर आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति है–वैसी अभिव्यक्ति जो अपनी स्वाभाविकता में

स्वयं प्रकृति का पर्याय बन जाती है। रोमांटिक कवियों और दार्शनिकों को यह आदर्श लोक साहित्य में प्राप्त हुआ। हर्डर (1744–1803) ने यह कहा कि लोकगीत प्रकृति की तहत ही स्वाभाविक है और वे मनुष्य की बुद्धि को नहीं, वरन उसकी अनुभूतियों को व्यक्त करते हैं उसने विभिन्न देशों और जातियों के लोकगीतों का संकलन प्रकाशित किया (1788), जिसका गेटे और प्रकारांतर से पूरे यूरोप के रोमांटिक आंदोलन पर प्रभाव पड़ा। गेटे के प्रारंभिक गीत लोकगीतों की भावभूमि और लयविधान से प्रेरित है। ब्रिटेन में लोक साहित्य के प्रति बढ़ता हुआ आकर्षण ही रॉबर्ट बर्न्स (1759–1796) के गीतों के रूप में व्यक्त होता है। ''[11]

लोक में रूढ़ियाँ भी होती है, परंपराएं भी। समूची संस्कृति रूढ़ियों और परंपराओं का योगफल हुआ करती हैं। रूढ़ियाँ स्थिर होती हैं और परंपराएँ गतिशील। भाषा का अधिकांश रूढ़ियों पर टिका होता है, परन्तु नए–नए शब्द–अर्थ–मुहावरे गढ़ने की परंपरा उसे सदैव प्रासंगिक बनाए रखती है। बोलियों में संगीत प्राणतत्व की भाँति समाहित रहता है, जो तद्भाषी जनसमुदाय (लोक) की रागात्मकता का प्रतीक है। ''[12]

संक्षेप में, लोक साहित्य परवर्ती साहित्य के अलावा इतिहास, पुरातत्व, भूगोल, नृतत्व आदि ज्ञान की विभिन्न शाखाओं में अनेकविधि उपयोगी हो सकता हैं। '' मध्ययुग के ऐतिहासिक लोकनायकों और वीरों की जो कहानियाँ आज प्रचलित हैं, वे उनसे पूर्व नहीं रची गई होंगी। भोज, हम्मीर, रत्नसेन, और पद्मावती आदि की कहानियाँ इसी प्रकार की हैं। सन् सत्तावन के राष्ट्रीय विद्रोह ने कुँवर सिंह के गीतों को जन्म दिया है। आदिवासी विद्रोह के बाद बिरसा भगवान की कथाएँ और गीत छोटा नागपुर की विभिन्न भाषाओं के लोक साहित्य के अंग बन गए हैं। वर्तमान शताब्दी में गाँधी और भगत सिंह संबंधी लोकगीतों की रचना हुई है और वे हमारी मौखिक परंपरा में सम्मिलित हो गए हैं। ''[13]

संदर्भ–सूची

1. विद्यानिवास मिश्रः स्वरूप विमर्श, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2001, पृ. 97
2. वहीं, पृ. 97
3. वही, पृ. 98
4. श्यामाचरण दुबेः समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996, पृ. 70–71
5. गीता पटनायकः लोकगीतों की दुनिया, 2007, पृ. 5
6. दिनेश्वर प्रसादः लोक साहित्य और संस्कृति, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 118–9
7. हजारी प्रसाद द्विवेदीः आलोचना, जनवरी–मार्च, 1978 पृ. 8 पर उद्धृत
8. वसुधा, 43–44, अक्टूबर, 1998, पृ. 11

9. विद्यानिवास मिश्रः स्वरूप विमर्श, भारतीय ज्ञानदीप, नई दिल्ली, 2001, पृ. 107

10. विद्यानिवास मिश्रः साहित्य के सरोकार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007, पृ.179

11. दिनेश्वर प्रसादः लोक साहित्य और संस्कृति, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 163

12. चित्तरंजन करः लोकराज, मड़ई, बिलासपुर, 2009, पृ. 93

13. दिनेश्वर प्रसादः लोक साहित्य और संस्कृति, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 119—20

डॉ. चित्तरंजन कर
भाषा विज्ञानी, सेवानिवृत्त
आचार्य,

हिन्दी भाषा एवं सांस्कृतिक एकता

प्रकाण्ड विद्वान चाणक्य ने कहा कि '' व्याकरण ठीक करने से पहले मैं मनुष्यों को ठीक करना चाहता हूँ।''

यह बड़ा तर्कपूर्ण कथन है। तात्पर्य यह है कि समाज का व्याकरण ठीक हो, तो भाषा का व्याकरण ठीक हो जाता है। या यूं कहें कि, भाषा का व्याकरण ठीक होने से समाज का व्याकरण ठीक हो जाता है। परन्तु वर्तमान परिदृश्य यह है कि आज का हमारा समाज एवं इसका व्याकरण पूरी तरह से विकृत हो गया है। हमारी चेतना एवं हमारी भाषा के बीच की खाई निरंतर बढ़ती ही जा रही है। हम अपने भाषायी सांस्कृतिक इतिहास की आवाज सुन नहीं रहे है। इतिहास लगातार कुछ कहता हुआ गुजर रहा है और हम उससे बात नहीं कर पा रहे हैं। फलस्वरूप हमारी चेतना हमें छोड़कर जा रही है, जिससे हमारी भाषायी संस्कृति के सामने विकट समस्या खड़ी हो गयी है।

प्रथमतः हम यह समझें कि भाषायी संस्कृति क्या है तथा यह कैसे किसी देश को प्रभावित करती है। यह माना जाता है कि भाषा की रचना संस्कृत, पाली एवं प्राकृत के बाद हुई। भाषा का मूल–रूप संस्कृत है। हिन्दी एवं संस्कृत दोनों की ही प्रकृति विशुद्ध रूप से भारतीय है। दोनों ही विभिन्न प्रदेशों एवं देश से अपने अपने ढंग से जुडी हुई है तथा इन दोनों के माध्यम से सांस्कृतिक आदान प्रदान भी संभव हुए हैं। विभिन्न दक्षिण भारतीय राज्यों ने समय–समय पर भाषा की प्राचीनता संबंधी दावे किए हैं। उदाहरण के तौर पर तमिल लोग अपनी भाषा को संस्कृत से ज्यादा प्राचीन मानते हैं। किन्तु यह भी एक तथ्य है कि तमिल भाषी लोग कालीदास का लोहा मानते है। इसी प्रकार से तेलुगु, कन्नड़ एवं मलयाली भी संस्कृत का लोहा मानते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भाषा एवं साथ ही संस्कृति के प्रति दुराग्रह नहीं होना चाहिए। राष्ट्र प्रेम प्रमुख है और हमें यह समझना चाहिए कि राष्ट्र प्रेम का संबंध सिर्फ भारत की स्वाधीनता से ही नहीं है, वरन आजादी से भी पुराना है। मेघदूत में राष्ट्र प्रेम है। इस कारण मेघदूत सिर्फ संस्कृत की ही रचना नहीं है, अपितु तमिल, तेलुगु, असमी, कन्नड़ मलयाली की भी रचना है। यह तो हुआ एक पहलू। भाषायी संस्कृति का एक अन्य पहलू है,उसकी बोलियाँ। किसी ने कहा है '' जिस तरह तू बोलता है, उस तरह तू लिख'' प्रख्यात अंग्रेजी कवि विलियम वर्ड्सवर्थ ने भी कहा कि कविता की भाषा आम आदमी की भाषा होनी चाहिए अर्थात भावनाओं या विचारों को व्यक्त करने के लिए भाषा के साथ–साथ आचरण भी होना आवश्यक है। गौतमबुद्ध अभिजात वर्ग के थे और उन्हें संस्कृत भी जरूर आती रही होगी, लेकिन उनके उपदेश जन–भाषा पाली में थे। संस्कृत के पंडित तुलसी ब्रज एवं अवधी में लिखते हैं। सूरदार, कबीर भी जन भाषा में ही लिखते हैं। ये सब

न सिर्फ मानवीय संस्कृति को अपनी रचनाओं में प्रबल रखना चाहते, वरन् उस भाषा या बोली की संस्कृति को भी अक्षुण्ण बनाए रखना चाहते हैं।

किन्तु हम आज के परिदृश्य की चर्चा करें तो यह पाते हैं कि रचना की भाषा जब–जब जनभाषा होती है, तब–तब इसके प्रभाव एवं उन्नति को समाप्त करने के लिए भाषा एवं संस्कृति के तथाकथित एवं स्वयंभू मठाधीश, जागीरदार और राजनीति पोषित अभिजात इस पर हमला कर देते हैं और उसे किसी राज्य की तरह जीत कर उसे विद्रूप कर देते है। यह भी हम पाते हैं कि आज के युग के आधुनिक संचार माध्यमों जैसे टी.वी.रेडियो विशेषकर एफ एम, रेडियो मिर्ची सरीखे विशुद्व व्यावसायिक माध्यमों, नये मीडिया (वाट्सअप फेसबुक आदि) ने भारतीय भाषायी संस्कृति की पूरे मनोयोग से प्रभावित करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। प्रिंटिंग तकनीक भी अपने क्रांतिकारी दौर से गुजर रही है, जिसके कारण वर्तनी एवं ध्वनिगत संस्कारों की समस्या भी उठ खड़ी हुई है।

ये तो बात हुई भाषायी संस्कृति की। अब कुछ बातें हिन्दी भाषा के संदर्भ में। भारत एक अत्यन्त विशाल देश है। यहां अनेक जाति एवं धर्म के लोग एक साथ रहते हैं। इन जातियों एवं धर्मों की विविधता में भाषायी विविधता भी शामिल है। 20वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही यह माना जाने लगा था कि हिन्दी ही एक ऐसी भाषा है, जो पूरे राष्ट्र को एकता के सूत्र में बांध सकती है। हिन्दी सिर्फ एक भाषा ही नहीं, भाषा परिवार है। यह भी कह सकते हैं कि 20वीं शताब्दी की संस्कृत है। हिन्दी की 20–25 बोलियाँ होने के बावजूद आज यही हमारे संपर्क की भाषा है। इसी भाषा से भाषायी सांस्कृतिक एकता को बढ़ावा मिलता है। ब्रिटिश शासन काल में जब कलकता भारत की राजधानी थी, तब बंगालवासियों की हिन्दी को अंतर प्रांतीय भाषा की स्वीकारोक्ति, गुजरात के महात्मा गांधी का दक्षिण में हिन्दी को संपर्क भाषा कहकर प्रचार प्रसार, डॉ.बी. जयरामन तथा राजगोपालाचारी जैसे दक्षिण भारतीय का हिन्दी के प्रचार प्रसार पर बल यह सब सिद्ध करता है कि हिन्दी ही वह संपर्क भाषा है, जो कि हमारी सांस्कृतिक एकता की पहचान करा सकती है, क्योंकि हिन्दी भाषा अस्पृश्यता के खिलाफ समता की भाषा है। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के राही मासूम रजा ने बी.आर.चोपड़ा के महाभारत की पटकथा जिस हिन्दी में लिखी, उसने हिन्दी के अनेक तथाकथित हिमायतियों के दांत खटट् कर दिए। शायद यही वजह है कि महाभारत सीरियल की जो लोकप्रियता हिन्दी भाषी राज्यों में थी, वही लोकप्रियता दक्षिण भाषायी राज्यों में, गैर हिन्दी भाषी राज्यों में भी रही। मुगलकाल में भाषा फारसी थी, किन्तु मुगल दरबार में कवि गंग ने ब्रज भाषा में एक कविता पद सुनाकर छत्तीस लाख रूपये पुरस्कार स्वरूप प्राप्त किए थे।

किन्तु कालांतर में यानि कि 20वीं शताब्दी के मध्य से भाषाई झगड़े बढ़ने लगे। स्वाधीनता आंदोलन के साथ–साथ हिन्दी, उर्दू के बीच में भी आंदोलन चलने लगा। आगे चल कर झगड़ा इतना बढ़ा कि पाकिस्तान अलग राज्य ही बन गया। शेष भारत में हिन्दू एवं मुसलमानों ने हिन्दी के महत्व पर वाद–विवाद किया। इसी वजह से अंग्रेजी विश्वविद्यालयों की भाषा बनी। किन्तु इसमें अंग्रेजी का कोई दोष नहीं था। अंग्रेजी ''मत छुओ'' का नारा

नहीं देती लेकिन हिन्दी एवं उर्दू ''अपनी भाषा, अपनी संस्कृति'' की धारणा पर जोर देती दिखती है। इसलिए विश्वविद्यालयों की भाषा नहीं बन सकी। आज यदि हम भाषा के नाम पर छुआछूत नहीं चलाते हैं, तो संभव है कि महाराष्ट्र एवं कर्नाटक पारस्परिक सांस्कृतिक संबंधों की ओर अग्रसर हो सकते हैं। बम्बई को मुम्बई नाम देने भर से भाषायी संस्कृति नहीं बदल सकती। इसी प्रकार से मद्रास को चेन्नई कर देने भर से बात नहीं बनेगी।

भाषा, क्षेत्रीय सीमाएँ, भाषायी विविधता को लेकर हमें अब कट्टरपंथी नहीं होना चाहिए। न ही इन प्रश्नों पर ज्यादा माथा पच्ची करना चाहिए। जिस प्रकार से समाज विज्ञानी यह मानते हैं कि शुद्व जाति, शुद्ध नस्ल का दावा बेतुका है, ठीक उसी प्रकार से हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि भाषा की शुद्वता का दावा निहायत ही दकियानूसी, रूढ़िवादी एवं वैचारिक खोखलेपन की परिचायक है।

कुल मिलाकर यह कह सकते हैं कि हिन्दी एवं संस्कृति किसी धर्म विशेष जाति विशेष किसी क्षेत्रीय दल अथवा किसी राजनीतिक दल की नौकरानी नहीं है। यह आम जनता के परिवार का विषय है, उन्हें एक सूत्र में बांधे रखने की एक मात्र कड़ी है। त्रिभाषा फार्मूला हिन्दी विरोध का ही परिणाम है, जिससे उत्पन्न कठिनाइयों से हम सब भली-भांति परिचित हैं।

एक सर्वग्राह्य भाषा एवं संस्कृति को लेकर हम चिंतित जरूर हैं, किन्तु राजभाषा विभाग के उच्च स्तर पर बैठे पदाधिकारियों का जीवन वृत्त जब अंग्रेजी में छप कर बंटता है, तब इन चिंताओं में इजाफा भी होता है। अभी और प्रयासों की आवश्यकता है। मूल्यपरक विचारों एवं उसके प्रति कटिबद्धता की आवश्यकता है।

अपने विचारों (अभी काफी शेष रह गया कहने को) को विराम देते हुऐ मैं राही मासूम रज़ा के प्रसिद्ध उपन्यास ''आधा गांव'' की एक पंक्ति उद्धृत करना चाहूंगा, जिसमें उन्होंने तत्कालीन भाषायी संस्कृति एवं धर्म के ठेकेदारों को करारा जवाब देते हुए कहा था—

''नागफनी के जंगल में हरसिंगार के कोंपल की तरह मैं हिन्दुस्तानी हूँ।''

प्रो.मनीष श्रीवास्तव
आचार्य,
आंग्ल एवं विदेशी भाषा

दास्ताने जिन्दगी

बेदर्द जमाने ने आज भी दया की खिड़की नहीं खोली,
चोंच में चोंच डाल के यूँ बच्चे से चिड़िया बोली।
भर आँख में आँसू अपनी बच्चा बोला,
माँ क्यूँ तूने अपने आप को किसी से कम तोला।
गर मेरी तरह ही सो जाते है, भूखे बच्चे जहाँ के अब,
तो आ मिलकर बदल दें दस्तूर जहाँ के सब।
कहने लगी चिड़िया क्या मैं तुझको बताऊँ
हालात इस जहान के क्या तुझको सुनाऊँ।
दिल तेरा टूट जायेगा हालात की सुनके,
तू भी चुनेगा हमेशा रंजो गम के तिनके।
कुछ ऐसी जगह बनाना तू अपना आशियां,
न पहुँचे जहां जालिम निगाहों की बर्छियां।
दुखिया के दुख को बाँट लेना अपना समझकर,
खोये हुये को भूल जाना सपना समझकर।
यह मान लेना जिन्दगी कब किसकी है,
ले लेगा इसे वही यह अमानत जिसकी है।
यह कहके चिड़िया फिर वहाँ से उड़ गई,
पर बहुत कुछ सोचने को मजबूर कर गई।
जिन्दगी जीने से पहले ही आफत रसीदा हो गया,
वे नन्हीं सी जान पालने में ही संजीदा हो गया।

डॉ. हरीश कुमार
आचार्य
प्रबंध अध्ययन

हमारा विश्वविद्यालय परिसर : प्रवासी और अप्रवासी पंछियों का आशियाना

रोटी, कपड़ा और मकान सांसारिक जीवों की मूलभूत आवश्यकतायें हैं। इस सन्दर्भ में यह सर्वविदित तथ्य है कि मानव भोजन और रहने हेतु सुन्दर स्थल की तलाश में एक जगह से दूसरी जगह जाता है। यह व्यवहार न सिर्फ हम मानवों में पाया जाता है, बल्कि अन्य पशु–पक्षियों में भी देखा गया है। विभिन्न अध्ययन और शोध से यह बात और भी प्रमाणित हो जाती है। पक्षियों में यह व्यवहार बेहद आम है।

पक्षियों की ऐसी प्रजातियाँ जो भोजन और प्रजनन हेतु अपने वास्तविक निवास स्थान को छोड़ अन्यत्र कहीं नये स्थान को अपना आशियाना बनाती हैं, उन्हें प्रवासी पक्षी के नाम से जाना जाता है। वहीं कुछ प्रजातियाँ ऐसी भी हैं जो एक ही जगह पर निवास करती हैं।

प्रवासी पक्षियों के सन्दर्भ में यह बात जानने में जितना रोमांचकारी है, उतना ही रहस्यमयी भी कि पक्षी बार–बार हजारों मील दूरी तय कर एक ही जगह पर कैसे पहुँच जाते हैं। जिस प्रकार मनुष्य सुदूर की यात्रा कर अपने घर को लौट आता है, ठीक उसी भाँति पक्षी भी हजारों किलोमीटर की यात्रा कर शरद् ऋतु के समय किसी सुदूर स्थान में व्यतीत कर न केवल अपने ग्रीष्म–निवास–क्षेत्र, बल्कि अपने घोंसले में भी पहुँच जाते हैं। कई वैज्ञानिकों का ऐसा मानना है कि पक्षियाँ प्रवसन के दौरान लक्ष्य निर्धारण हेतु अपने विवेक का इस्तेमाल करती हैं। अनेक वर्षो के निरीक्षण के फलस्वरूप ज्ञात कुछ तथ्यों से यह पता चला है कि पक्षी पृथ्वी के चुम्बकत्व के प्रति संवेदनशीलता और स्थल चिह्नों (Landmarks) जैसे कि पहाड़, नदी, झरनों की पहचान रखते हैं, जो कि प्रवसन में मददगार साबित होता है।

पक्षियों में स्थान परिवर्तन करने की अनोखी क्षमता का विकास उनकी उष्णरक्तता, पंख और उड़ान की अद्भुत शक्ति के कारण बहुत अधिक हुआ है। यद्यपि अन्य प्राणियों की अपेक्षा पक्षी अत्यधिक शीत या अत्यधिक उष्णता दोनों के प्रति सहनशील होते हैं, तथापि शरद ऋतु में जब भोजन का अभाव हो जाता है तब उन्हें बाध्य होकर प्रवसन करना पड़ता है। प्रवसन द्वारा चिड़ियों को दो प्रतिकूल ऋतुओं में भी दो अनुकूल क्षेत्र प्राप्त हो जाते हैं। एक क्षेत्र में वे निवास करती हैं और प्रजनन करती हैं और दूसरे क्षेत्र में भोजन तथा विश्राम हेतु जाती हैं। यह प्रकृति का विधान है कि चिड़िया प्रवसन क्षेत्र के ठंडे भाग में ही अंडे देती हैं। अतएव उत्तरी गोलार्ध में उनका मैथुनक्षेत्र आर्कटिक उत्तरी ध्रुव अथवा समशीतोष्ण क्षेत्र होता है, किन्तु दक्षिणी गोलार्ध में इसके ठीक विपरीत, शीतकालीन आवास भूमध्य रेखा के समीप होता है।

कुछ चिड़ियाँ देश के अंदर ही एक भाग से दूसरे भाग में स्थान परिवर्तन करती हैं, जैसे शाह बुलबुल या दुधणजु (Paradise flycatcher), सुनहरा पोलक (Golden oriole), और नौरंग (Pitta)। यह स्थानीय प्रवसन देश के उत्तरी भाग या पहाड़ों की तलहटी में अधिक होता है, जहाँ भूमध्य रेखा की अपेक्षा ऋतु परिवर्तन अत्यधिक प्रभावकारी होता है। वास्तविक प्रवसन करने वाली चिड़ियों की भाँति इनमें भी प्रवसन क्रमिक और नियमित होता है। देश के किसी भाग में कोई जाति ग्रीष्म ऋतु में, कोई जाति बरसात में

और कोई जाति शरद में आगमन करती है। इसके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का भी स्थान परिवर्तन बराबर होता रहता है, जो आहार पर प्रभाव डालने वाली स्थानीय परिस्थितियों, जैसे गर्मी, सूखा या बाढ़ इत्यादि, अथवा किसी विशेष प्रकार के फूल लगने और फल पकने की ऋतु के कारण होता है। उस समय चिड़िया एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में चली जाती हैं।

इस सन्दर्भ में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि हमारा हरा–भरा विश्वविद्यालय परिसर भी ऐसे ही कई प्रवासी और अप्रवासी पक्षियों का घर है। यहाँ प्रत्येक वर्ष तकरीबन 10 से भी ज्यादा प्रवासी पक्षी पूरे संसार से आते हैं, जिसमें जलीय और स्थलीय दोनों तरह की प्रजातियाँ शामिल हैं। इनके अलावा भी कई पक्षी ऐसे हैं जो यहाँ के स्थानीय निवासी हैं। कुछ प्रवासी और अप्रवासी पक्षियों के बारे में जानकारी निम्नांकित है :

अप्रवासी पक्षियों की सूचीः

कम संख्या	पक्षी (सामान्य नाम)	प्रवसन की प्रकृति (प्रवासी / अप्रवासी)
1	लिटिल ब्लू किंगफिशर	अप्रवासी
2	वाइट ब्रेस्टेड किंगफिशर	अप्रवासी
3	पाईड किंगफिशर	अप्रवासी
4	पोंड हेरॉन	अप्रवासी
5	कैटल एग्रेट	अप्रवासी
6	नाईट हेरॉन	अप्रवासी
7	शर्पेट ईगल	अप्रवासी
8	ब्लैक काईट	अप्रवासी
9	शिकरा	अप्रवासी
10	चइनीज हॉक ईगल	अप्रवासी
11	फिशिंग काईट	अप्रवासी
12	फिसन्ट टेल्ड जकाना	अप्रवासी
13	मुर हेन	अप्रवासी
14	फिसन्ट को	अप्रवासी
15	कॉपर स्मिथ बर्बएट	अप्रवासी
16	वाइट चेक्ड बर्बएट	अप्रवासी
17	ग्रीन बी ईटर	अप्रवासी
18	प्लोवर	अप्रवासी
19	ब्लैक ड्रोंगो	अप्रवासी
20	इंडियन रोबिन	अप्रवासी
21	मैगपाई रोबिन	अप्रवासी
22	एशियन ब्राउन फ्लाईकैचर	अप्रवासी
23	पर्पल सनबर्ड	अप्रवासी
24	टेलर बर्ड	अप्रवासी
25	नट हैच	अप्रवासी
26	स्कैली ब्रेस्टेड मूनिया	अप्रवासी

27	वाइट थ्रोटेड मुनिया	अप्रवासी
28	वाइट इंडियन मुनिया	अप्रवासी
29	एसीलार्क	अप्रवासी
30	ग्रेट इंडियन पिता	अप्रवासी
31	ब्राह्मनी मैना	अप्रवासी
32	स्पॉटेड डव	अप्रवासी

प्रवासी पक्षियों की सूची:

क्रम संख्या	पक्षी (सामान्य नाम)	प्रवासी
1	कॉटन टील	प्रवासी
2	लेसर व्हिसलिंग टील	प्रवासी
3	ओपन बिल स्टोर्क	प्रवासी
4	कॉमन इओर	प्रवासी
5	ब्रेंज विंग जकाना	प्रवासी
6	कूट	प्रवासी
7	प्लेनटीव कक्कु	प्रवासी
8	ब्लैक रेड स्टार्ट	प्रवासी
9	कॉमन वेवर	प्रवासी
10	पिपिट	प्रवासी
11	ग्रे वे टेल	प्रवासी
12	ग्रीन वेग टेल	प्रवासी
13	पैराडाइज फ्लाईकैचर	प्रवासी
14	कॉमन कक्कु	प्रवासी
15	बर्न स्वालो	प्रवासी
16	गोल्डन ओरियल	प्रवासी

इसके अलावा भी अन्य बहुत सारे प्रवासी और अप्रवासी पक्षी देखे गये हैं। चूँकि हमारा विश्वविद्यालय परिसर काफी हरा–भरा, फल एवं पराग–युक्त पादप से भरपूर है इसलिए यह हमेशा से प्रवासी पक्षियों के आकर्षण का केन्द्र रहा है। इसके अलावा विश्वविद्यालय परिसर में मौजूद तालाब भी जलीय प्रवासी पक्षियों का अस्थायी घर है, जहाँ खाद्य–सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। यही वजह है कि हमारा सुंदर–सा विश्वविद्यालय परिसर पक्षियों के मधुर संगीत से हमेशा गुंजायमान रहता है।

डॉ. सीमा राय
सह–प्राध्यापक
जन्तु विज्ञान

फर्क

बहुत फर्क है
मुझमें और तुम में

तुम दूसरों का कद
छोटा करके
बढ़ाना चाहते हो अपना कद
मैं अपना कद बढ़ाकर
औरों के बराबर
होना चाहता हूँ

तुम सोचते हो
दूसरे हारेंगे
तब जीतोगे तुम
मैं सबकी जीत में
रखता हूँ विश्वास

दूसरों की कामयाबी पर
तुम्हें होती है जलन
होती है खीझ
और आता है गुस्सा
जबकि मुझे खुशी होती है

और मैं लेता हूँ प्रेरणा
अपनी कामयाबी के लिए
फर्क सिर्फ सोच से है....

डॉ. गुरु सरन लाल
सहायक प्रध्यापक (अस्थायी)
पत्रकारिता एवं जनसंचार

मातृभाषा दिवस समारोह
21 फरवरी 2018

मातृभाषा दिवस समारोह
21 फरवरी 2018
प्रबन्ध अध्ययन विभाग
Department of Management Studies
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय

मातृभाषा दिवस समारोह
21 फरवरी 2018
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
प्रबन्ध अध्ययन विभाग
Department of Management Studies
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय

मातृभाषा दिवस समारोह

हिंदी अपनी भूमि की अधिष्ठात्री है– राहुल सांकृत्यायन

हिंदी दिवस समारोह
(व्याख्यान एवं काव्य गोष्ठी)
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)

हिंदी दिवस समारोह
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)

हिंदी दिवस समारोह

हिंदी दिवस समारोह
(व्याख्यान एवं काव्य गोष्ठी)
गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)

हिंदी ही भारत की राष्ट्र भाषा हो सकती है– लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक

संस्कृत, हिन्दी, अँगरेजी और हिंगलिश– एक विमर्श

प्रायः सभी क्षेत्रों में अँगरेजी के बढ़ते वर्चस्व ने विश्व की अनेक भाषाओं के अस्तित्व को संकट में डाल रखा है। इस विषमता में भी हमारे लिए संतुष्टि या आत्मुग्धता की बात इतनी सी है कि विश्व की कई जीवित भाषाओं के साथ हिन्दी की पताका भी भविष्य के भाषायी आकाश में लहराती रहेगी। किन्तु हिन्दी का जीवित कलेवर तत्समय दिवंगत हो चुके हिन्दीनिष्ठों की आत्माओं को कितनी तृप्ति देगा या सुइयाँ चुभाएगा? वर्तमान में हिन्दी की दशा–दुर्दशा देखकर सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

चहुँओर प्रहारों और झंझावातों के बीच विश्व–पटल पर हिन्दी की प्रतिष्ठा को राजभाषा एवं अन्यान्य समितियों–संगठनों द्वारा आज पर्यन्त बनाए रखने के अदम्य प्रयास निश्चय ही स्तुत्य हैं। देश के प्रथम राष्ट्रपति का गौरव प्राप्त करने वाले डॉ. राजेन्द्र प्रसाद हिन्दी के उत्थानार्थ 'अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ आजीवन जुडे रहे। किन्तु 'हिन्दी' में अपना 'अस्मिता–दीप' जाज्वल्यमान रखने की सर्वप्रथम सामर्थ्य संगीतात्मकता तथा नियमबद्वता की अद्भुत युति रखने वाली अपनी 'जननी' उस 'संस्कृत' से आई है, जिसे 'देवभाषा' एवं 'आर्यभाषा' भी कहा जाता है तथा जिसका प्रतिबिंब बांग्ला, उड़िया आदि प्रांतीय भाषाओं में भी है। तेलुगू, तमिल, कन्नड़ तो विशेष रूप से संस्कृत से अनुप्राणित रही है। संस्कृत ने न सिर्फ प्रांतीय भाषाओं के पुष्पित–पल्लवित होने में अंतरस्थ महती भूमिका का निर्वाह किया, बल्कि वेद, पुराण, उपनिषद, दर्शन–ग्रंथ आदि अपनी कालजयी देनों के द्वारा भारत की वैचारिक जड़ों को सिंचित कर हमें ऊर्जावान रखते हुए कश्मीर से कन्याकुमारी तक वह हमारी उस एकात्म और एकरूप देव संस्कृति की भी संवाहक रही, जिसके प्रभाव से भाषावाद, प्रांतवाद व सीमा पार से रचे जा रहे कूटनीतिक षड़यंत्र एवं हिंसक कृत्यों के उपरांत भी हमारी एकता–अखंडता–अस्मिता अक्षुण्ण बनी हुई है।

अब प्रश्न यह उठता है कि विश्व में सर्वोत्कृष्ट धरोहर की धनी 'संस्कृत की सच्ची उत्तराधिकारिणी तथा भारत के वृहद क्षेत्र में बोली जाने वाली हिन्दी को विश्व तो क्या भारत में ही वह सम्मान और अधिकार मिल सका, जिस पर उसका निर्विवाद अधिकार था? यद्यपि संविधान के अनुच्छेद 343 के अंतर्गत हिन्दी को उसकी देवनागरी लिपि के साथ राजभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया गया, किन्तु स्वतंत्रता पूर्व अंग्रेजों द्वारा राजकीय प्रयोजनों हेतु अँगरेजी का प्रयोग किए जाने के कारण सुविधा की दृष्टि से आगामी पंद्रह वर्षो के लिए अँगरेजी को यथावत् रखा गया तथा संसद को यह अधिकार भी दिया गया कि वह आवश्यकतानुरूप निर्धारित अवधि में वृद्वि भी कर सकती है। इसी अंतराल में हिन्दी के दुर्भाग्य ने पैर पसारना प्रारंभ कर दिया। अतः क्षेत्रीय महत्वाकांक्षाओं के सम्मुख विवश होकर दो वर्ष पूर्व ही राजभाषा अधिनियम 1963 पारित करते हुए अँगरेजी के प्रयोग हेतु 1971 तक की समयावधि

बढ़ानी पड़ी तथा बाद में इसमें भी संशोधन करते हुए उक्त अवधि कभी भी समाप्त न होने वाले अनिश्चित काल तक के लिए बढ़ा दी गई।

दृष्टव्य हो कि स्वतंत्रता पश्चात् जहाँ कुछ प्रांतों ने राजभाषा के रूप में हिन्दी का विरोध किया था, वहीं स्वतंत्रता पूर्व 1875 में बंगाल के बाबू केशवचन्द्र ने लिखा कि ''हिन्दी भाषा प्रायः सर्वत्र ही प्रचलित।'' तथा 1876 में बंकिमचन्द्र चटर्जी ने 'बंगदर्शन' में लिखा था कि ''हिन्दी शिक्षा ना करिले, कोनो क्रमे–ई चलिबे ना।'' हिन्दी के प्रति ऐसी सद्भावना और उदारता बंगाल के कुछ और विद्वानों तथा अन्य प्रांतों के विद्वानों में भी रही होगी। भले ही उद्धरण दृष्टिगत न हो रहे हों।

अतः एक अनुत्तरित प्रश्न यह है कि 1947 को स्पर्श करते–करते हिन्दी के प्रति अन्य प्रांतों का यह सद्भाव और औदार्य कहाँ विलुप्त हो गया। कहीं हम भाषा–प्रकरण में भी तो फूट डालो और राज करो की कूटनीति में निपुण विघ्नसंतोषी अंग्रेजों के किसी कुचक्र में फँस तो नहीं गए।

क्योंकि–''जानि न जाइ निसाचर माया।''

अन्यथा लंबे आन्दोलनों के फलस्वरूप मिली स्वतंत्रता के कारण उस समय समूचे राष्ट्र की धमनियों में प्रवाहित देशभक्ति के स्वर्णिम अवसर का लाभ लेते हुए हिन्दी से जुड़ी राजनैतिक, आर्थिक,धार्मिक, सामाजिक आदि महत्ता को समझाने में समर्थ तथा हिन्दी–अँगरेजी दोनों भाषाओं में समान अधिकार रखने वाले हमारे तत्कालीन नीति निर्माताओं के लिए कुछ सहजता और कुछ कठोरता के संयोजन से समस्त प्रांतों को हिन्दी के प्रति एकमत करना अधिक कठिन नहीं था। बाद में तो ''चिड़िया चुग गई खेत'' वाली कहावत चरितार्थ हो गई।

विज्ञान की पराकाष्ठा के परिणाम स्वरूप वैश्वीकरण की यात्रा कर धीरे–धीरे विश्वग्राम बनाने की ओर अग्रसर विश्व में ज्ञानार्जन की दृष्टि से त्रिभाषी पद्धति के अंतर्गत एक प्रश्न पत्र के रूप में अँगरेजी की उपेक्षा नहीं की जा सकती। स्नाकोत्तर अध्ययन में किसी के द्वारा अँगरेजी साहित्य के चयन की स्वतंत्रता का भी सम्मान किया जाना चाहिए। किन्तु संस्कृत के सम्मानजनक स्थान को सुरक्षित रखने के लिए शिक्षा–जगत से जुड़े प्रकांड विद्वानों को सर्वमान्य समाधान ढूँढ़ना ही होगा। वास्तव में हमारी आरंभिक भूलों ने हमारे वर्तमान को दलदल में परिवर्तित कर दिया है। एक पाँव निकालें तो दूसरा धँस जाता है।

उच्च शिक्षा के लिए भारत में विज्ञान और अँगरेजी की अन्योन्याश्रितता एक सहज जिज्ञासा को जन्म देती है कि रूस, चीन, जापान, जर्मनी, फ्रांस आदि देशों ने निज भाषा से या अँगरेजी के न्यूनतम आश्रय से अँगरेजी अवलंबित भारत की तुलना में विज्ञान की ऊँचाइयों को स्पर्श कैसे किया। इन देशों के इस गुण से भारत ने कुछ सीखने की चेष्टा की? क्योंकि उच्च तकनीकों की प्राप्ति हेतु अंततः हम इन्हीं देशों के मुखापेक्षी रहते हैं। यह भी निर्विवाद सत्य है कि उपग्रह, प्रक्षेपास्त्र आदि विज्ञाननिष्ठ क्षेत्रों में भारतीय वैज्ञानिकों ने भारत का मस्तक गौरवान्वित करते हुए सम्पूर्ण विश्व में अपनी क्षमताओं का लोहा मनवाया है। अतः उन्नति

का कोई भी क्षेत्र भारत में अवरूद्ध नहीं होने वाला वैसे भी निज भाषा और उन्नति में कभी कोई परस्परता रही भी होगी तो वह धीरे–धीरे समाप्त होती जा रही है। वस्तुतः भारतेन्दु जी द्वारा '' निज भाषा उन्नति अहै'' में देखा गया स्वप्न देश के आत्मगौरव से जुड़ा हुआ है तथा वर्तमान भारत में आत्मगौरव से जुड़ी अप्रासंगिक हो चुकी अनेक समस्याओं में से एक है, जिनके पचड़ों में पूर्ण संवेदनशीलता से पड़ने वाले व्यक्तियों में से कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकतर '' दुविधा में दोनों गए, माया मिली न राम'' की तर्ज पर अपनी ही प्रगति बाधित कर लेते हैं। परिणामतः बाद में अपनी किसी समस्या के निवारणार्थ जगत्–चातुर्य में निपुणों की दुत्कार सहते उनके सामने करबद्ध खड़े रहते हैं। परिणाम स्वरूप हिन्दी निष्ठ में ''ऑल इंडिया रिजेक्टेड हिन्दी फिल्म सलेक्टेड'' की आत्मग्लानि विद्यमान है।

स्पष्ट सत्य यह है कि किसी भी भाषा को जब तक समूचे राष्ट्र में शिक्षा, प्रतियोगी परीक्षा, राजकाज तथा आजीविका के माध्यम के रूप में पूर्ण अपनत्व से नहीं स्वीकारा जाता, तब तक उसका अपेक्षित उत्थान असंभव है। रस, छंद, अलंकारों के भरोसे आजीविका के नए क्षेत्रों का सृजन नहीं किया जा सकता। सिर्फ हिन्दी भाषियों से छलछंद किया जा सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यदि कोई कुछ लिख भी ले तो उसके प्रकाशन से जुड़े आर्थिक संकट और उसके विक्रय की समस्याएँ प्रबल हैं। यदि ये समस्याएँ निराकृत हो जाती है तो भी वेबसाइट, ट्विटर, फेसबुक के युग में ये रचनाएँ छोटे–बड़े ग्रंथालयों की महँगी ऑलमारियों के पारदर्शी शीशों के पीछे अपनी अस्मिता पर लगे प्रश्न चिह्न से दुखी दिखाई देंगी।

एक संवेदनशील व्यक्ति को उसके स्वभावगत दोष भले ही उसे निज भाषा में उन्नति और आत्मगौरव से जुड़े सकारात्मक–नकारात्मक पक्षों में उलझाए रखें, किन्तु वह इस बात से भली–भॉति परिचित है कि अब हिन्दी, संस्कृत, प्रांतीय सभी को धकियाते हुए हिंगलिश युग आ रहा है। आ रहा है, या लाया जा रहा है? नीर–क्षीर करना अधिक कठिन नहीं है। हमें यह समझाने की चेष्टा हो रही है कि हिन्दी–अँगरेजी के संयुक्त प्रयोग अर्थात 'हिंगलिश' से हिन्दी अँगरेजी और प्रांतीय भाषा–भाषियों को विचार–विनिमय में सुविधा हो जाएगी। यदि इसमें तथ्यगत बात हो तो भी इसके लिए किसी प्रकार के व्याकरण–शास्त्र का रचा जाना समीचीन नहीं कहा जा सकता। तटस्थद्रष्टा की भूमिका अपनानी पड़ती है। सामान्य बातचीत में अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग होना अस्वाभाविक नहीं है। वैसे भी प्रवाहमयता की नैसर्गिक प्रकृति के कारण कोई भी भाषा अन्य भाषाओं से लोक व्यवहार में आ रहे उपयोगी शब्दों को अपने में समाविष्ट कर ही लेती है। तद्भव–तत्सम की यात्रा करते हुए फारसी, अँगरेजी, उर्दू, अरबी आदि भाषाओं के शब्दों से समृद्ध होते समय हिन्दी ने कभी भी संकोच नहीं किया। साइकिल, स्टेशन, मोबाईल आदि शब्दों के लिए हिन्दी में पर्यायवाची ढूँढ़ना हिन्दी की ही सरसता–सहजता और प्रभावोत्पादन को विनष्ट करना है। आश्चर्यजनक सत्य तो यह है कि 'हिन्दी' शब्द हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान की कड़ी का फारसी शब्द है, किन्तु जन–कल्याण की आड़ में हिंगलिश का समर्थन कर हिन्दी को आत्महत्या की ओर धकेलने की कुचेष्टाओं के नेपथ्य में औद्योगिक और विज्ञापन–जगत सक्रिय है, क्योंकि हिन्दी के साथ–साथ प्रांतीय भाषाओं में भी विज्ञापन तैयार करने में उसका अर्थशास्त्र गड़बड़ाता है।

अतः यह स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए कि अब हिंगलिश का ही वर्चस्व रहेगा। क्योंकि आर्थिक जगत् अपनी असीम शक्तियों और सामर्थ्य के बलबूते बौद्धिक वर्ग से भी वह सब कुछ बुलवा लेता है, जिससे उसके आर्थिक हित निष्कंटक रह सकें।

धन की सत्ता ने समाज को सदैव प्रभावित किया है। 'भर्तृहरि' ने नीतिशतकम् में धन की सत्ता पर कटाक्ष या पीड़ा इस प्रकार व्यक्त की है—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः,

स पण्डित स श्रुतवान् गुणज्ञः।

स एव वक्ता स च दर्शनीयः

सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ति।

अर्थात् जिसके पास धन है वही कुलीन है, वही गुणज्ञ है, वही वक्ता है, वही दर्शनीय है। सभी गुण स्वर्ण (धन) में निवास करते हैं।

विनोद कुमार शर्मा

कार्यालय सहायक सेवानिवृत्त

कबीर की भाषा : अनुभूति और व्यंजना

"बन गया है तो सीधे–सीधे, नहीं तो दरेरा देकर" शब्दों को अपने अनुसार व्यवहार कराने की कुशलता के कारण ही कबीर को आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने 'भाषा का डिक्टेटर' कहा है लेकिन यह कबीर की मौलिक विशेषता नहीं, परम्परा प्रसूत है। रीति काल के कई ऐसे शब्द–सिद्ध कवि थे जो एक या दो शब्दों से पूरा छंद तैयार करते थे या अनपढ़ होने पर भी श्रेष्ठ आशु–कवि के रूप में लोक प्रचलित थे। गाँवों में आज भी ऐसे अनपढ़ लेकिन अनुभवी बुजुर्ग हैं, जो निरर्थक शब्दों के रूढ़ अर्थों में सार्थक प्रयोग करते हुए उच्चारण शैली और ध्वन्यात्मक अवलम्ब से शब्दों को मन चाहा अर्थ–विस्तार देते हैं। अतः कबीर के बारे में द्विवेदी जी के कथन का जो यह सारांश है कि–''अपने शब्दों में अर्थगौरव भरने और भाषाई प्रयोग करने के कारण कबीर वाणी के डिक्टेटर थे। सीधे सीधे या दरेरा देकर वे जैसा चाहे वाक् विधान करते थे, वह परंपरा प्रसूत है उनकी अपनी नहीं । कबीर पूर्व या उनके समकालीन योगियों संतों ने जिस भाषा का विधान अपनी योग और साधना क्षेत्र की गूढ़ता को बनाये–बचाए रखने के लिए पारिभाषिक अर्थों में किया था, कबीर की वाणी उसका शाब्दिक अनुशीलन करती है। ब्रह्म, अनहद नाद, सहस्रार, कुण्डलिनी, विविध चक्रों, अवस्थाओं तथा ज्ञान की दशाओं की व्यंजना के लिए नाथादि संतों योगियों ने सूत्रार्थक–गूढ़ार्थ शब्द–प्रयोगों का जो आविष्कार अपने लिए किया था, कबीर ने उसी को लोक तक पहुचाने वाले माध्यम के रूप में, उद्घाटित किया है। घुमक्कड़ और सत्संगी चर्याओं के द्वारा कबीर मानस भक्ति, योग, प्रेम और अध्यात्म के क्षेत्रों से कुछ अच्छे, कम प्रचलित और विशेष तत्वों–बातों को आत्मसात करके, बाकी को छोड़ करके कबीर के संत व्यक्तित्व को तेवर प्रदान करता था। सूफी मत के तत्वों, वैरागी संतों के वचनों, नाथ–सिद्धों के साधना मूलक उपदेशों तथा भक्ति के साम्प्रदायिक स्वरूपों के समाहार से कबीर की वाणी का विधान हुआ है।

कबीर भाषा के प्रभाव और उसके आकर्षण को साधकर समाज को उसी प्रकार चमत्कृत करते थे जैसे कनफटे जोगी। साम्प्रदायिक मत वैविध्य और उनके आडम्बरों से कबीर का मौलिक क्षोभ था, जहां वे हिन्दू और मुस्लिम दोनों के दिखावे को फटकार लगाते थे। वे ना तो भक्त थे, न तो साधक थे, न तो समाज सुधारक और ना ही पूरे अर्थों में संत थे–यह बात द्विवेदी जी स्वीकार कर चुके हैं। कबीर इन सभी क्षेत्रों की बातों को आत्मसात किये हुए निडर और कुशल उपदेशक थे जो जिस चीज को गलत महसूस करते थे उस पर अपने हृदय को मुक्त करके, शब्दों को उचित शैली और अर्थ दे के वाणी का ऐसा विधान करते थे जो समाज में एक विशेष प्रभाव उत्पन्न कर सके। सरहपा, शबरपा, आदि अनेक संतों–योगियों के कथन का कबीर केवल दुहराव मात्र किये हैं शब्दों के कुछ ऐसे हेर फेर जो मौलिक जैसा प्रभाव उत्पन्न करें। जैसे 'ढोला मारू रा दूहा' का दोहा संख्या 53,पृ.–17 के इस दोहे–**''राति जू सारस कुरलिया गूंजि रहे सब ताल। जिणकी जोड़ी बीछुड़ी तिणका कौन हवाल।।'' को कबीर इस तरह कहते हैं**–**''अम्बर कुंजा कुरलिया, गरजि भरे सब ताल। जिनि पे गोविन्द बीछुटे, तिनके कौन हवाल।।''** 1 या सरहपा का यह दोहा जिसमें उन्होंने साधकों को उपदेश दिया है कि–**''जेहि मण पवण ण संचरयि, रवि ससि णाह पवेस। तहिं बढ़ चित्त बिसाम करू, सरहे कहिअ उएस।।''**2 को कबीर दास के शब्दों में देखें–**जिहिं वण न सींह न संचारै, पंखि उड़े नहिं जाइ। रैनि दिवस का गमि नहीं, तह कबीर रहा ल्यौ लाइ।।''** 3 सरहपा, शबरपा, डोम्भिपा, गोरखबानी, ढोला मारू रा दूहा, पाहुणदोहा, गुरूग्रंथ साहब आदि कई

ऐसे ग्रन्थ हैं जहाँ के उपदेशों से कबीर की वाणी प्रभावित है और उस प्रभाव को कबीर विशेष ढंग से अपनी वाणी में व्यवस्थित करतें हैं। कबीर की भाषा पूर्वापर कई संतों के उपदेशों से अपना उपजीव्य तैयार करती है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और परशुराम चतुर्वेदी जी के ग्रंथों में कबीर की वाणी और उनके साहित्य की विशेषताओं से जुड़े ऐसे कई स्थल और भी हैं जहाँ से कबीर के व्यक्तित्व को ठीक से जाना जा सकता है। द्विवेदी जी ने लिखा है कि ''कबीरदास ऐसे ही मिलन बिन्दु पर खड़े थे, जहाँ से एक तरफ हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योगमार्ग निकल जाता है और दूसरी ओर भक्तिमार्ग, जहाँ से एक ओर निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना– उसी प्रसश्त चौरस्ते पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरूद्ध दिशा में गये हुए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे।'' (कबीरः हजारी प्रसाद द्विवेदी पृष्ठ–114)[4] इसका मतलब यह नहीं कि कबीर को इन सबका ज्ञान नहीं। निकलने वाले ये सारे रास्ते कबीर को अपने अनुभूत सत्य का पक्ष–प्रतिपक्ष समझाकर निकलते हैं। कबीर इन सबके तत्वों को समेटकर चौरस्ते पर खड़े हैं उनसे छूटकर जाने वाले तत्वों में बाह्याडम्बर, अहम्, द्वेष और अंध–भक्ति जैसे तत्व ही थे। इसी कारण कबीर की वाणी इन सभी क्षेत्रों के अनुभूत सत्य का अनुकरण करती है। अपनी राह का यह फकीर हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में सिर्फ 'आत्माराम' की बातों को मानता है और वह आत्माराम इन सभी रास्तों का उत्साही–शोधक और अन्वेषक है, पूरी तरह निर्लिप्त या उदासीन नहीं है। कबीर तो आत्मा अल्लाह और राम के नाम पर फैले तरह तरह के आडम्बरों को देखकर, मूलतत्व को स्वीकार करते हुए, स्वयं को इन सभी से अलग कर लेते हैं। द्विवेदी जी स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि पहली बार कोई संत–भक्त अपने भगवान् को 'निरपख भगवान्' के आसन पर बैठाता है। कबीर यह जानते थे कि जप, माला, छाप, तिलक, उपवास, तस्बीह, नमाज, तीर्थाटन, दर्शन आदि तमाम कर्मकांड मन को एकाग्र करने के साधन मात्र हैं भक्ति नहीं। भक्ति के लिए तन्मयता जरूरी है। जिसके लिए ये सारे विधान किये जाते हैं लेकिन कबीर का समय भक्ति की विकृत अवस्था का समय था, जहां भक्ति और धर्म के लिए कर्मकाण्ड ही मुख्य हो गया था। ऐसी स्थिति में कबीर कर्मकांड और आडम्बरों को महत्वहीन करके आध्यात्मिक प्रेम (सूफी साधना से प्रभावित) को लोक मानस में प्रतिष्ठित करते हैं। धर्म के विरूद्ध होने की गलती और प्रायश्चित, दंड, भोग, पाप आदि के भय से मन को अलग करके उसे आत्मस्थ अवस्था में लेने का प्रयास करते हैं। इसके लिए वे सूफियों के प्रेम मूलक भक्ति को लोक के लिए आसान और प्रीतिकर जानकर उन्हें उपदेशित करते हैं कि–

''पढ़ि–पढ़ि के पत्थर भया लिखी लिखीभया जु ईट। कहैं कबीरा प्रेम की लगी न एकौ छींट।।
पोथी पढ़ि–पढ़ि जग मुआ पंडित भया न कोय । ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय।।''

कबीर का समाज सुधारक रूप भ्रामक और दुविधा युक्त है। हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने साफ स्वीकार किया है–''कबीर को हिन्दू मुस्लिम धर्मो का सर्व धर्म समन्वयकारी सुधारक (जो लोग) मानते हैं वे क्या चाहते है, ठीक समझ में नहीं आता। कबीर का रास्ता बहुत साफ था। वे दोनों को स्वीकार कर समन्वय करने वाले नहीं थे।''कबीर के समाज सुधारक रूप का भ्रम संभवतः इसलिए होता है क्योंकि वे ऐसे समय में उपदेश दे रहे जब हिन्दू और मुस्लिम दोनों के बीच संस्कृति, धर्म, समाज व्यवस्था और भाषा सभी क्षेत्रों में संघर्ष चल रहा था। दोनों सम्प्रदाय एक दूसरे को तुच्छ बनाने के लिए शोध कर रहे थे। अतः दोनों को फटकार लगाने वाला कबीर, समाज सुधारक ही होगा ऐसा भ्रम होना सहज ही है। आडम्बर और

बाह्याचार, जाति, वर्ण, छुआछूत, ऊँच–नीच आदि तमाम व्यक्ति–व्यक्ति में भेद करने वाली सामाजिक समस्याओं का मूल–उच्छेद करने के लिए संकल्पबद्ध संत को लोक मानस निश्चित ही समाज सुधारक ही समझेगा लेकिन कबीर सिर्फ भाव की साधना को सिखाने के लिए धर्म और कर्म के आडम्बरों को हटाने के लिए लोक मानस को चेता रहे थे। उनका किसी समाज को सुधारने का संकल्प नहीं था इसीलिए उनके उपदेश 'साधो' के लिए था,'स्वयं अपने लिए' या फटकार लगाने के लिए 'मुल्ल्ला और पाडे' के लिए है वे किसी धर्म या सम्प्रदाय की मूल भावना को चोट नहीं पहुंचाते ना तो किसी धर्म या सम्प्रदाय के बरक्श अपने किसी सम्प्रदाय या धर्म को स्थापित करने की स्पृहा ही दिखाई पड़ती है। सम्प्रदाय बनाने और उसके लिए मंडन–खंडन करने का द्रविण प्राणायाम करने का संकल्प उनमें नहीं था। इसलिए कबीर को भाव–साधक या संत ही समझना जरूरी है।

कबीर योगियों, सिद्धों और नाथ मुनियों के ही समान एक विशेष आनंदमय लोक के बारे में बताते हैं जहाँ साधारण मनुष्य नहीं पहुँच सकता, जहां बारहों मास बसंत रहता है, निरंतर अमृत रस की बरसात होती रहती है। कबीर ऐसे ही बेगमपुर में निवास करतें हैं और वहां की अनुभूतियों को वे रस ले–ले के बताते हैं। सुन्न शिखर गढ़ के उस बेगमपुर का बखान करने, प्राप्ति का रास्ता सुझाने के बीच कबीर का विषयांतर न होना, अपने मूल स्वभाव, उद्देश्य को न छोड़ने जैसी विशेषताएं हजारी प्रसाद द्विवेदी और उन्हीं के किसी प्रिय ''एवेलिन इंडरहिल'' को भी अधिक विशेष लगता है क्योंकि अक्सर सामान्य पढ़े लिखे या अनपढ़ भक्त या संत ऐसी अवस्थाओं में रम जाने पर स्वयं की चेतना और अपने अस्तित्व तथा संकल्पादि से ऊपर उठ कर उस एक स्थिति विशेष के आकर्षण में, खुदा के नूर में, ईश्वर के साक्षात्कार में अपने आप को तिरोहित कर देते हैं। कबीर के साथ ऐसा नहीं होता वे निमग्न नहीं होते बल्कि अपनी सत्ता को बनाये रखते हुए अपने उपदेशक भाव तथा समाज के भ्रम को दूर करने के व्रत को भूलते नहीं हैं। सच्चा साधक एक विशेष स्थिति में (उन्मनी में) अपने होने तक को भूल जाता है, इसीलिए उन्हें साधक भी कहना ठीक नहीं। वे जब योगियों की संगत में आते या उनका ध्यान आता, तब वे स्वयं को सुन्नी शिखर गढ़ के बेगमपुर का आनंद लेने वाला योगी जैसे बताने में व्यस्त हो जाते और जब नाथ–सिद्धों की साधना और भाषा का ख्याल आता तब चमत्कारिक–पारिभाषिक शब्दों में सिद्ध नाथों के समान ''बरसे कम्बल भीगे पानी'' या''मंछी रूखा चढ़ी गयी'' और ''उनमनी चढ़ा गगन रस पीवै'' की अनुभूतियों को महसूस करने लगते, इसलिए कबीर मौलिक रूप में साधक भी नहीं है अगर वे कुछ हैं तो विशेष क्षेत्रों की विशेष व्याख्या या अनुभूति से प्रभावित, चमत्कृत होकर उसके प्रभाव का बखान करने वाले संत ही हैं। वे जिसकी संगत में बैठे उसकी बातों को अपने अनुसार बताने समझाने लगे। उनकी प्रतिभा या मौलिकता यही है, जहां कबीर सबको समझाने सचेत करने या आडम्बर से दूर रखने के लिए विभिन्न मत मतान्तरों या भक्त संतों की बातों, स्थितियों को अपने अनुसार उद्घाटित करते थे।

कबीर का अनुभूत सत्य उनकी आखिन देखी के समाज बोध से तैयार है। रामानन्द की वैष्णव भक्ति, हठयोग, अष्टांगयोग, अद्वैतवाद, सूफी प्रेम साधना, सत्संग, खंडन–मंडन के शास्त्रार्थ और इन सभी के बीच उनका मुसलमान और हिन्दू दोनों धर्मों के लिए अपना और पराया दोनों बने रहना कबीर के कबीरत्व को उद्घाटित करता है। कबीर की आखिन देखी में ज्ञान और चेतना के ये सारे तत्व एक साथ उपस्थित हैं जो तत्कालीन पूरे समाज को एक विशेष वातावरण में संवेदित कर रहे थे। आडम्बर और छुआछूत, वर्ण–भेद और जाति–भेद, सम्प्रदाय और धर्म जैसे वैविध्यपूर्ण वातावरण समाज को मथ रहे थे। कबीर की भाषा इसी वातावरण के विक्षोभ से अर्थ–गाम्भीर्य और व्यंजना इकट्ठा करती है, इसीलिए कबीर सबके प्रभाव को

स्वीकार करके, सबकी कमियों को उद्घाटित करके उसी की कमी के लिए सबको फटकार लगाने का साहस अपनी भाषा में उतार पाते हैं। चुटकी लेने, व्यंग्योक्ति करने, कमियां गिनाने और उन पर तर्क सहित अपना क्षोभ जाहिर करने में बनारसी फक्कड़ आज भी माहिर हैं लेकिन कबीर का यह फक्कड़ स्वभाव, उनके संत व्यक्तित्व और ज्ञान तथा अनुभूति की उपर्युक्त तमाम सरणियों से इतने व्यवस्थित ढंग से तैयार है कि वे फक्कड़ होकर भी तत्व ज्ञानियों को अकाट्य तर्कों से निःशब्द करने और अपनी तरह से सोचने पर विवश करने के लिए समर्थ हैं। यह फक्कड़ स्वभाव, संघर्ष, अनुभूत ज्ञान को मनाने के लिए प्रेरित करना, पोथियों की उपेक्षा करना, सबको एक समान मनुष्य समझना और धर्म को आडम्बर से दूर रखने की कवायद का पूरा संघर्ष कबीर के कबीरत्व को ओज देता है। लेकिन वे अपनी बात बनवाने के लिए किसी से आग्रह नहीं करते बल्कि लोगों को जीवन की सत्यता को समझने–जानने के लिए स्वतन्त्र करते हैं स्वच्छंद करते हैं। डॉ0 सुकदेव सिंह जी के शब्दों में–**''कबीर के सम्बन्ध में 'चरित–पोथियां' और 'परिचई–पुस्तकें' यह बताती हैं कि उनके पास फटा–चिथड़ा कम्बल, उलटे रखे मिट्टी के घड़े। यानी गरीबी की दौलत अफरात थी। उनकी कविता में एक क्षुभित–वंचित की वह सारी चीख है जो लोगों के कान खड़े करती है, आँखें खोलती हैं और आवृतित और स्मृति के लिए जिह्वा को संचालित करती है, कबीर पीड़ा की जीभ पर बैठे हुए वाचक हैं।''**

कबीर के इस फक्कड़ाना अंदाज और उनकी भाषा की व्यंजना क्षमता को उत्तर भारत के कुछ लोक गायकों ने गहरे से महसूस किया पदों की मार्मिकता को समझा और निर्गुण राम के अलख निरंजन स्वरूप की भावधारा पूरे समाज में प्रवाहित करने लगे। ऐसे गायकों के कंठ से निकले कबीर के गीत मैथिली मंडित, मंगल, पद, सोहर, झुम्मरि, बसंत लगनी, समदाउनी आदि रूपों में लोक हृदय के भावों को उद्वेलित करने लगे। कबीर की भाषा और उनका अनभै सांच मिलकर लोक जीवन में 'कबीरा' के रूप में प्रचलित हो गया। कबीर सिर्फ संतों के संगी और मुल्ला–पंडितों के आडम्बरों के विरोधी ही नहीं रहे बल्कि सही अर्थों में अब जाकर कबीर पूरी तरह से लोक के होते हैं। तमाम संतों की पूरी परंपरा है भारत भर में, लेकिन लोक जीवन के उल्लास, विशद चिंतन, गायन जीवन और मरण आदि विविध स्थलों तक, तुलसी के बाद कोई दूसरा नहीं पहुंच पाया था। कबीर की कबीरी में मस्त उत्तर भारत के ये गायक दूसरों को भी इसी भाव में मस्त करने लगे। कबीर अब सभी के सगे हो गए। बावजूद इसके कबीर किसी के सगे नहीं हैं। अस्वीकार से ही उनकी प्रकृति तैयार हुई है। समाज को अपने अनुसार चलाने की कोशिश करने में मुल्ला–काजी, पांडे–सिद्ध सभी को कबीर ने ललकार कर, चुप कराकर लोगों के लिए अनुभूत ज्ञान का स्वच्छंद रास्ता खोल दिया। **हजारी प्रसाद द्विवेदी जी के शब्दों में–''भारतवर्ष की जलवायु में ही कुछ ऐसा गुण है कि यहां के साधक और पंडित समस्त प्रचलित पौराणिक परंपरा को स्वीकार करतें है अपने विशेष मत की पुष्टि के लिए उससे संगत बैठाते हैं और अपने उपास्य देव को सबके सर पर बैठा देते हैं।''** कबीर ने भी यही किया सभी धर्मों, सम्प्रदायों, मत मतान्तरों, योगियों, सिद्धों, वैरागियों की बातों को पचाकर अपने बात (अनभै साँच) को उससे विशेष बनाकर अपनी तरफ से उसे सभी के सर पर बैठा दिए। लोक जीवन के कबीर पूरे कबीर नहीं जो समाज सुधारक हैं या मुल्ला, पंडित, काजी, सिद्ध और नाथों के सामने खड़े हैं, बल्कि लोक जीवन के कबीर व्यंग्योक्तियों की व्यंजना, निर्गुनियाँ संतों के रहस्यमयी गान और फक्कड़ स्वभाव वाले होली के 'कबीरा' के कबीर हैं। इसके अलग यदि कबीर कुछ और हैं, तो उपदेशक मात्र हैं। लोक जीवन अपने नेता और उनकी संवेदना को अपनी संवेदना और भावों के साथ उद्वेलित होने की कसौटी पर नाप कर अपने हृदय में स्थान देता है तब वह नेता घर–घर के मंगल गान, सोहर, फाग, कबीरा निर्गुन और

बानियों की शैलियों कारण लोक के जीवन गीतों के साथ खड़ा हो पता हैं। तुलसीदास इस मामले में कबीर से कहीं आगे की चीज है इसी कारण उनकी रचना आज भी पूरे भारत के घर–घर में पूजी जाती है।

कबीर की भाषा कितनी मौलिक है, उसकी व्यंजना में कितना नाथ–सिद्धों का है, कितना उनका अपना है, यह द्विवेदी जी के इस वाक्यांश से स्पष्ट हो जाता है कि–कबीर वहां खड़े हैं **''जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ पर एक ओर योग मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति मार्ग, जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना–उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे।** जब सब कुछ निकल जाता है, तब निश्चित ही उसके आने का असर ही कबीर की वाणी में है, चले जाने के कारण वहां कुछ विशेष बचा नहीं है। आने मात्र से कबीर की भाषा में कबीरत्व आ गया। संगत का असर तो होता ही है। लेकिन कबीर के सतर्क कथन चाहे नाथ–सिद्धों, कनफटे योगियों के रहस्यपूर्ण चमत्कारिक पारिभाषिक उक्तियों के असर से तैयार हो या काजी–मुल्ला और पांडे जैसे आडम्बरी कर्मकांडो के विरोध–विक्षोभ से, कबीर को संतो का सिरमौर बना दिया। यह असर सिर्फ कबीर में ही क्यों आया पूर्ववर्ती–परवर्ती किसी संत में क्यों नहीं आया? यह प्रश्न कबीर की मौलिकता को इंगित करती है। पृथक अस्तित्व की चाहत उनको नहीं थी, वे सिर्फ लोक मानस को सचेत कर रहे थे और सचेत करने के प्रचलित तरीकों का अपने अनुसार उन्होंने प्रयोग किया और लोकप्रिय भी हुए यह उनका प्रभाव ही है कि लोक मानस ने उनके न चाहने पर भी विधिवत उनका मठ बनाया, विधिवत सम्प्रदाय स्थापित किया परशुराम चतुर्वेदी जी मानते हैं कि उस समय **''प्रत्येक वर्ग की, चाहे वह धार्मिक हो या सामाजिक, दूसरे से केवल इस बात पर होड़ थी कि उसका पृथक अस्तित्व युक्ति संगत समझा जाना चाहिए। कबीर ऐसे प्रयासों के प्रति वैरागी थे। वे अपने को समाज में प्रतिष्ठित करना नहीं चाहते थे, बल्कि सामाजिक लोक जीवन ने स्वयं उन्हें प्रतिष्ठित किया है।''**

डॉ0 राजेश मिश्र
सहायक प्राध्यापक, हिंदी
(अस्थायी)

राजभाषा हिंदी

माँ वसुंधरा के भाल की शान है ये हिन्दी,
गिरिराज हिमालय की आन–बान है ये हिन्दी।
माँ मानसी की वीणा का वरदान यही है,
सुरभारती की सच्ची संतान यही है।
कोटिशः कंठों की आवाज है हिन्दी,
देश की भाषाओं की सरताज है हिन्दी।।

अक्षरों के नवांकुर का अक्षर घर यही है,
शब्दों की मलिका का साम्राज्य यही है।
वेदों की ऋचाओं का संसार यही है,
संगीत के स्वरों का झंकार यही है।
कबीर की साखी, यही तुलसी का राम है,
सूर का सूरज यही, मीरा का श्याम है।।

मानस है ये तुलसी का, रसखान की हिन्दी,
भारत की अस्मिता की, पहचान है हिन्दी।
भाषा ही नहीं यह तो हिन्दुस्तान है हिन्दी,
माँ वसुंधरा के ललाट की शान है ये हिन्दी।।

डॉ0 अनामिका तिवारी
सहायक प्राध्यापक
वाणिज्य

छत्तीसगढ़ में पर्यटन

सैर कर दुनिया के गाफिल
जिन्दगानी फिर कहाँ
जिन्दगी गर कुछ रही,
तो ये रवानी फिर कहाँ

कभी, कहीं मैंने सुना था। शायद आप में से भी कुछ ने इसे पहले पढ़ा होगा और कुछ अभी पढ़ रहे हैं। जब मैंने इसे पढ़ा था, तब मुझे महसूस हुआ था, कि सचमुच इतनी खूबसूरत जिंदगी के हर पल को और भी खूबसूरत बनाने की चाह सबके दिल में होती है। क्योंकि हर किसी को खूबसूरती अच्छी लगती है और फिर प्रकृति से अधिक खूबसूरत और क्या हो सकता है?

हममें से कई लोग प्रकृति की सुंदरता में अपने पलों को यादगार बनाने की चाह लिए पिकनिक के बहाने पर्यटन का आनंद लेते हैं। हालांकि 'पर्यटन' शब्द को परिभाषित करने के प्रयास में तमाम विश्व स्तरीय बैठकों के आधार पर यह कहा गया है कि 'लगातार एक वर्ष या उससे कम समय तक सैर–सपाटे, व्यापार तथा अन्य कामों के लिए अपने रहने के स्थान से बाहर घूमने तथा ठहरने वाले व्यक्तियों से संबंधित गतिविधि को पर्यटन कहा जा सकता है।'' लेकिन सैर–सपाटे के हमारे छोटे–छोटे सम्मिलित प्रयास भी किसी क्षेत्र विशेष को पर्यटन स्थल सिद्ध करते हैं और फिर प्रकृति की हसीन वादियों में घूमना न सिर्फ स्वस्थ मनोरंजन करता है, बल्कि हमारे शरीर को भी चुस्त दुरूस्त रखता है। इस मामले में हमारा छत्तीसगढ़ 'सुजला सुफला, शस्यश्यामलाँ' सम्पन्न है। कहीं कलकल करती छलकती नदियां है, कहीं झरनों के झरने का संगीत है तो कहीं छोटी सी बावली है, जिसके जल की शीतलता में अन्तर्मन भी शीतल हो जाता है।

रोमांच का अनुभव करने वाले हम–आप जैसे उत्साही लोगों के लिए पहाड़ों की सर्पीली चढ़ाई और घने जंगलों की सर्र–सर्र करती सरसराती हवायें हैं। कहीं दूर तलक सूनसान इलाका है, तो कभी धड़कनें थम सी गयी है, जब नीचे झांका है। और फिर पर्यटन करता तन–मन जब यह जानता है कि इस दौरान मिलने वाली तमाम चीजें जैसे गुफा, मूर्ति, किले, अभिलेख इत्यादि एक शानदार याद, संस्कृति, परम्परा, इतिहास बताती हैं तो हमें अत्यधिक खुशी होती है। आश्चर्य, रोमांच से भरपूर एक अद्वितीय अनुभव होता है। हमें पता चलता है, कैसे थे हम? कैसे, हैं हम, कैसने हे–हमर छत्तीसगढ़?

स्वाभाविक सी बात है, सबसे पहले हमारी इच्छा अपने बिलासपुर को जानने की होती है। बिलासा की नगरी जो अब हमारा पालना बन गयी है। ऐसा माना जाता है कि बिलासा नाम की केवटिन यानि मछुआरिन की सात्विक महानता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हुए हमने इस क्षेत्र का नाम बिलासपुर रख दिया। बिलासपुर के शनिचरी के पीछे बिलासा चौक में बिलासा की सहज और अप्रतिम सौंदर्य लिए मूर्ति स्थापित है। इस मूर्ति से हमें अपने यहां की नारियों की कर्मठता, सहज सौंदर्य और पुरूषों के साथ काम में हाथ बटाने का अनुमान होता है। आइए, अब अपने पर्यटन की शुरूआत करते हैं देवी–दर्शन से। बिलासपुर से सड़क मार्ग द्वारा कटघोरा रोड पर 25 किलोमीटर दूर माँ महामाया की नगरी रतनपुर है। जिसे धार्मिक दृष्टि से न सिर्फ हम बिलासपुरवासी, वरन पूरा छत्तीसगढ़ एक संपूर्ण भारत का दर्शनीय स्थल मानता है। इसे एक सिद्ध स्थान माना जाता है। बहुतों से किए साक्षात्कार और किवदंतियों में यह बात सामने आती है 'जो

मांगा वो पाया है, आज मेरी माँ ने मुझको फिर बेटा कह के बुलाया है'। इस तरह की धार्मिक भक्ति विज्ञान की दृष्टि से कितना उचित है, इस विवाद में न पड़ते हुए, मैं सिर्फ इतना ही कहूंगी कि श्रद्धा और विश्वास आप चाहे जिस किसी पर करें, यदि खुली आँख से करें तो आत्मबल मिलता है, शांति मिलती है, स्वयं की या स्वयं के अस्तित्व की अंतिम सच्चाई का अहसास मिलता है, आत्मविश्वास बढ़ता है और फिर जिसके अंदर आत्मविश्वास है वो दुःखी रहकर अपने अनमोल जीवन को जाया नहीं कर सकता। हमारा रतनपुर हमें प्रेरणा देता है कि–

''जग में जब तू आया, तू रोया जग हँसा था,
बसर कर जिंदगी ऐसी, जग रोये तू हँसता जा।''

रतनपुर में आराधना भक्ति के अलावा एक समृद्ध ऐतिहासिक सभ्यता के साक्ष्य भी मिलते हैं। दरअसल हमारे छत्तीसगढ़ को जिस राजवंश ने पहली बार स्थायी, विस्तृत और व्यवस्थित प्रशासन दिया, उस कलचुरी वंश ने यह नगर बसाया। ऐसा माना जाता है कि रतनपुर का अस्तित्व चारों युग (सत्, त्रेता, द्वापर और अब कलयुग) में रहा है। हालाँकि कलचुरियों की त्रिपुरी शाखा के शासक कोकल्ल देव के सबसे छोटे बेटे कलिंगराज ने तुम्माण, जिला बिलासपुर को अपनी राजधानी बनाया और छत्तीसगढ़ को एक व्यवस्थित इतिहास दिया। यहाँ इनके वंशजों ने अनेक मंदिर तथा भवनों का निर्माण कराया। कालांतर में रत्नराज ने रतनपुर बसा कर कलचुरियों की राजधानी रतनपुर स्थानांतरित कर ली। रत्नराज या रत्नदेव प्रथम ने ही भगवती माँ महामाया का ग्यारहवीं शताब्दी में मंदिर बनवाया था। माँ के भक्तों को यह जरूर पता होगा कि विश्व के 51 शक्ति पीठों में शक्ति पुंज महामाया की गणना की गयी है। ऐसा माना जाता है कि शोक संतप्त शिव के कंधे पर रखी हुई सती के शव को भगवान विष्णु ने छिन्न–भिन्न कर दिया था और सती का दाहिना हाथ रतनपुर में ही गिरा था। इस पवित्र नगरी में सभी धर्मावलम्बियों का तीर्थस्थल है। यहाँ शैव, शाक्त, जैन, बौद्ध, कबीर, इस्लाम तथा सतनाम पंथ सभी पर विश्वास करने वाले आते हैं। यहाँ से नजदीक ही राम टेकरी पर मराठा शासक बिम्बाजी द्वारा बनवाया गया श्री राम का ऐतिहासिक मंदिर भी दर्शनीय है। इसके अलावा बस स्टैण्ड के पास राजा पृथ्वी देव द्वारा निर्मित हाथी किला का अवशेष भी देखने योग्य है। किले का आकार बैठे हुए हाथी की तरह है, सोचिए कितना अद्भुत होगा यह। रतनपुर से मिली अन्य प्राचीन मूर्तियों में हिन्दू–मुस्लिम कला का नयनाभिराम सौंदर्य है। आज के नए परिवेश में निर्मित रतनपुर का खूंटाघाट जलाशय अपनी मनमोहिनी प्राकृतिक छटा से पर्यटकों को आकर्षित करता है। यहाँ वनभोज यानी कि पिकनिक मनाने का एक अलग ही आनंद है।

रतनपुर के दर्शन के बाद अद्भुत नजारों के ताले की चाभी ताला में तलाशते हैं। बिलासपुर शहर से 24 किलोमीटर दूर भोजपुरी दगौरी मार्ग पर मनियारी नदी के किनारे अमेरीकापा ग्राम स्थित है, जिसे ग्रामवासी और अब हम लोग भी ताला गांव कहते हैं। कल्पना कीजिये हमें छत्तीसगढ़ का, अपने प्रदेश का सबसे पुराना मंदिर देखने–दिखाने को मिले। कितना आनंदित होगा हमारा मन। तालागांव में स्थित देवरानी–जेठानी का मंदिर ही वह सबसे पुराना मंदिर है। इस मंदिर का सुंदर निर्माण, नक्काशियों का स्थापत्य वाह–वाह कहने को मजबूर कर देता है। हमारा तालागांव आज संपूर्ण विश्व के आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। दरअसल, यहां 8.8 फीट की एक अद्भुत मूर्ति मिली है। शायद ही संसार में ऐसी कहीं दूसरी मूर्ति मिले। रहस्य से युक्त इस मूर्ति का निर्माण बलुआ पत्थर से हुआ है। इस पत्थर में मानव व जीव जन्तुओं की आकृति निर्मित है। सोचिए इस मूर्ति के अवलोकन के लिए जब अमेरिका, इंग्लैण्ड, जर्मनी आदि

देशों से शोधकर्ता रहस्यमयी मूर्ति की जिज्ञासा लिए भारत आ सकते हैं, तो क्या हम इतने करीब तालागाँव नहीं जा सकते, जो हमें स्वयं पर गर्व करना सिखाता है।

आइये अब आपको मैं बिलासपुर शहर से 32 किलोमीटर दूर ऐतिहासिक, आध्यात्मिक, पुरातात्विक, धार्मिक, सांस्कृतिक ग्राम 'मल्हार' ले चलती हूं, जिसके बारे में यह कहा जाता है–

''गजानन अंबिका की गोद में सानंद रहते हैं
कर कल्याण जो जन का उन्हें केदार कहते हैं
करें जो देवी को शोभित, उसे श्रृंगार कहते हैं
करे हर मन को जो मोहित, उसे 'मल्हार' कहते है।''

मल्हार के उत्खनन में ईसा की दूसरी सदी की ब्राह्मी लिपि में आलेखित एक मृणमुद्रा प्राप्त हुई है। जिस पर ग्राम कोसलिया लिखा है जो मल्हार की प्राचीन बसाहट की जानकारी देता है। मल्हार क्षेत्र में शैव, वैष्णव, बौद्ध व जैन धर्म के मंदिरों, मठों और मूर्तियों का निर्माण बड़ी मात्रा में मिलता है। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा और स्वयं पर गर्व होगा कि मल्हार से चतुर्भुजी विष्णु की एक अद्वितीय प्रतिमा मिली है। इस पर मौर्यकालीन ब्राम्ही लिपि में लेख अंकित है। यह मूर्ति भारत में अब तक प्राप्त अभिलिखित प्रतिमाओं में सर्वाधिक प्राचीन है। इसका निर्माण समय लगभग ई.पू. 200 है। मल्हार के जन–जीवन में गणेश जी का विशेष महत्व रहा है। मल्हार संग्रहालय में गणेशजी की कई चतुर्मुखी एवं अष्टभुजी संग्रहित मूर्तियाँ देखने लायक हैं। अष्टभुजी महिषासुर मर्दिनी की खड्ग, ढाल, अक्षयमाला एवं मुण्ड लिए रौद्र रूपिणी आकृति पर नजर रूक सी जाती है।

मल्हार में प्राप्त देवी प्रतिमाओं में बायीं गोद में बालक को लिए इन्द्राणी मूर्ति, कला की दृष्टि से श्रेष्ठ है। इन्हीं देवी प्रतिमाओं में डिडिनेश्वरी या डिडिन दाई यानी माँ पार्वती की विलक्षण प्रतिमा पर बरबस ही दिल–दिमाग केन्द्रित हो जाता है। ग्रेनाइट पत्थर से निर्मित यह मूर्ति कारीगरी की अनुपम कृति के रूप में विविध अलंकरणों से सुसज्जित प्रसन्न मुद्रा में पद्मासन में नयनाभिराम हैं। मल्हार क्षेत्र का पातालेश्वर महादेव भी अलौकिक है। इस शिवलिंग पर चढ़ाया गया जल कहाँ चला जाता है, कोई नहीं जानता। बस, हमारी श्रद्धा ही जानती है। छत्तीसगढ़ के ये पर्यटन स्थल अलौकिक सौंदर्य एवं श्रद्धा के केन्द्र है यहाँ का प्राकृतिक सौंदर्य कल-कल निनादित नदियाँ एवं झरने मनमोहक हैं। यहाँ के मंदिरों का भी विशेष महत्व है।

डॉ0 (श्रीमती) सीमा पाण्डेय
सहायक प्राध्यापक,
इतिहास

परीक्षा की इस कठिन घड़ी में

परीक्षा की इस कठिन घड़ी में
टूटेंगे नहीं
दोस्त! हम एकजुट रहेंगे
घर की दरकती हुई दीवारों पर
हम फिर–फिर करेंगे गोबरी
बौछारों के प्रतिरोध में

हमारे लिए आसमान से
बरसती नेमतों को यूं ही
नहीं होने देंगे जाया
करेंगे मजबूत मेड़बंदी
बंद करेंगे हर सूराख
ताकि सुरक्षित रहे
हमारे भावी फसल के लिए
पूरी खुराक

कटती हुई मिट्टी के विरूद्ध
लगायेंगे घने पेड़
जिसकी छाया में फलेगा फूलेगा
हमारा कुनबा

दोस्त!
हमारे सर पर मंडराती
शहर की काली छाया के खिलाफ
हम सवारेंगे अपने गाँव की सूरत
जहाँ बसेगा हमारे सपनों का संसार

मुरली मनोहर सिंह
सहायक प्राध्यापक, हिंदी

व्यक्तिगत स्वातंत्र्य एवं सामाजिक दायित्व

मानव विज्ञान की गणना के अनुसार मनुष्य को आधुनिक मानव 'होमो सेपियन्स' के रूप में इस पृथ्वी पर आये लगभग 2.2 लाख वर्ष से ज्यादा हो गए हैं। मानव शरीर के सापेक्ष में उसके मस्तिष्क का आकार बड़ा होने के कारण बौद्धिक एवं चिंतन प्रक्रिया में उत्तरोत्तर उन्नति हुई है, जिसके परिणाम स्वरूप विभिन्न कालखण्डों में विकास के अलग—अलग सोपान गढ़ते गये। पाषाण युग, कृषि युग, ताम्र युग एवं कांस्य, लौह युग होते हुए पहिए के अविष्कार ने मानव सभ्यता में क्रांति ला दी। विज्ञान के अनेकानेक अविष्कारों जैसे विद्युत (बल्ब), स्टीम इंजन, गैसोलीन, बोलता चलचित्र, हवाई जहाज, सोना निष्कर्षण का साइनाइड विधि, लिनोतीपे छपाई मशीन, बेतार संचरण, एक्स—रे मशीन, प्रोडूसर गैस, कैमरा, कम्प्यूटर, मोबाइल और इंटरनेट आदि ने मानव एवं मानव समाज की सम्पूर्ण दशा एवं दिशा बदलने के साथ—साथ संपूर्ण चिंतन प्रक्रिया को भी प्रभावित किया है। आज का आधुनिक मानव उन्नत सूचना संचार क्रांति, उपग्रह संचार के माध्यम से इंटरनेट और विश्व मकड़ जाल (वर्ल्ड वाइड वेब) से चौतरफा घिरा हुआ है। कृत्रिम बुद्धि (आर्टिफीशियल इंटेलिजेंस) का मानव मन, बुद्धि और चेतना पर प्रभुत्व का भय सता रहा है। विज्ञान और तकनीकी के इस विकास ने मानवीय व्यवहार, चिंतन प्रक्रिया और समाज व सामाजिक चेतना में निश्चय ही व्यापक परिवर्तन लाया है। मनुष्य पहले आध्यात्मिक प्राणी था, बाद में नैतिक और सामाजिक प्राणी बना और अब आर्थिक, कामनाशील और यांत्रिक हो चुका है जिसे ह्यूमन रोबोट कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा। भौतिकवाद, बाजारवाद और पदार्थवाद ने भोगवाद को पराकष्ठा तक पहुंचा दिया है। कर्ज लेकर सुख को बाजार में खरीदने की प्रक्रिया चल रही है। इन्द्रिय संवेदन, सुख की स्थापित परिभाषा बन चुका है। चार्वाक दर्शन का पुनर्जन्म हुआ प्रतीत होता है, जिसमें कहा गया है कि—''यावज्जीवेत सुखं जीवेद ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत, भस्मिभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'' (जब तक जिओ सुख से जिओ उधारी करके घी पियो क्योंकि मृत्यु के पश्चात् देह का पुनर्जन्म नहीं होता)। इस सबके के बावजूद समूचे समाज में हैप्पीनेस इंडेक्स घट रहा है।

मानव चेतना का एक पक्ष या कार्नर सृजनात्मक और कलात्मक भी है, जो बाह्य जगत को पराधीनता का कारण मानते हुए अंतर्मन, अंतर्प्रज्ञा, अन्तर्चेतना की स्वतंत्रता पर विश्वास व्यक्त करता है। बाह्य जगत को साधन मानते हुए स्वातंत्र्य को साध्य मानता है। मनुष्य चिंतनशील प्राणी होने के कारण अनवरत व्यक्तिगत स्वतंत्रता और समाज में व्याप्त विषमताएं/बुराइयों को अपने सामर्थ्यानुसार दूर करने की सोचता रहता है। समाज और स्वतंत्रता अन्योन्याश्रित है जैसे शरीर और आत्मा। दोनों का पृथक अस्तित्व संभव नहीं है। आत्मा का स्वभाव स्वतंत्र होने का है, वहीं समाज का विकास स्वतंत्र व्यक्तियों के चेतनापूर्ण सामूहिक प्रयासों का प्रतिफल है। व्यक्तिगत स्वतंत्रता का अर्थ असामाजिक और अनियंत्रित स्वतंत्र होना नहीं हो सकता है। व्यक्ति समाज की इकाई है और समाज स्वतंत्र व्यक्तियों का समूह, जिसमें सर्वजन हिताय की भावना निहित होती है। स्वतन्त्र व्यक्ति ही स्वस्थ समाज का निर्माण कर सकता है। समाज की विभिन्न मनुष्यों जैसे चिकित्सक, वकील, इंजीनियर, शिक्षक, किसान, श्रमिक एवं आम जन इन सब में अंतर्संबंध है। अंतर्द्वंद्व केवल इतना है कि व्यक्तिगत हित को सामाजिक कार्य के लिए त्याग करना पड़ता है। अगर समाज, व्यक्तिगत स्वतंत्रता का सम्मान करे और व्यक्ति, सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वहन करे तो अग्रगामी, विकसित और स्वस्थ समाज का निर्माण हो सकता है।

एक विचार यह भी है कि समाज कहीं व्यक्तिगत स्वतंत्रता का बाधक तो नहीं। क्या मानव स्वतंत्रता को कमतर करके आंका जा रहा है और समाज नामक एक छद्‌म आवश्यकता खड़ा कर दिया गया है। किसी भी संगठन से मानवीय गरिमा और स्वतंत्रता को बाध्य नहीं किया जा सकता। अभी हाल में ही अमेरिकन भौतिक सिद्धांतवादी कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय, सांता क्रूज अमेरिका के प्रोफेसर कैरेन बराड ने समाज से संबंधित व्यावहारिक यथार्थवाद (agential realism) का सिद्धांत दिया जिसके अनुसार व्यक्तिगतवादी आध्यात्मिकता को चुनौती का संकेत देते हैं।

गंभीरतापूर्ण विचार करने पर लगता है कि वास्तव में आर्थिक और व्यक्तिगत स्वातंत्र्य प्राप्त व्यक्ति ही समाज के प्रति संवेदनशील होकर सामाजिक विकास की कामना और प्रयास करता है। द्वंदात्मक भौतिकवादी मन, बाजार और उपभोक्तावादी संस्कृति की देन है। इस द्वन्द में विकार, तनाव और संघर्ष है। इससे मुक्ति पाने या स्वतंत्रता के लिए मन में छटपटाहट ही नहीं अपितु मनुष्य अभिशप्त या मजबूर भी है। प्रसिद्ध अस्तित्वादी दार्शनिक ज्या पॉल सात्रे का कथन A man is condemned to be free (व्यक्ति स्वतन्त्र होने के लिए अभिशप्त है) आधुनिक मनुष्य के लिए ही कहा गया लगता है। वहीं भारतीय दर्शन में मोक्ष को जीवन का परम पुरूषार्थ या लक्ष्य कहा गया है जबकि धर्म, अर्थ और काम को जीवन जीने का साधन या आलम्बन बताया गया है। स्वातंत्र्य व्यक्तित्व की संवेदनशीलता, सामाजिक कार्य करने की इच्छा (social will) जागृत कर सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वहन करने की प्रेरणा या स्फूर्ति प्रदान करता है। महात्मा बुद्ध के मानव कल्याण और विश्व शांति के लिए करूणा, निर्वाण की सहज व्युत्पत्ति थी। मनुष्य के जीवन में पर्सनल विल और सोशल विल के मध्य हमेशा द्वंद चलता रहता है कि किसे कितनी मात्रा में निष्पादित किया जाय। वर्तमान सामाजिक ढाँचा और विषमता को देखते हुए प्रत्येक संवेदनशील मनुष्य का यह दायित्व है कि दोनों के बीच सम्यक संतुलन या साम्यावस्था बनाते हुए सभ्य समाज का निर्माण कर ''सर्वे भवन्तु सुखिनः'' के उद्‌देश्य को मूर्त रूप प्रदान करें।

डॉ. संतोष सिंह ठाकुर

सहायक प्राध्यापक, रसायन शास्त्र

गुब्बारे

1

गुब्बारा
लिजलिजा, रबड़ की परत का खोल
बैं,जा,नी,ह,पी,ना,ला इन्द्रधनुषी, सतरंगी
हवा पाकर फूलते ही आकर्षक हो जाता है।
ऊँचा उठता हुआ गुब्बारा
धीरे धीरे अपनी जमीन छोड़ने लगता है।

2

गुब्बारा
अपने अन्दर हवा भरकर
बाहरी हवा के साथ उड़ने लगता है।
एक बार ऊंचाई मिलने पर
अपनी जमीन पूरी तरह छोड़ देता है गुब्बारा।

3

तात्पर्य यह कि
एक गुब्बारा हवा भरकर जिसने उड़ाया आसमान में
गुब्बारा एक आसमान से दूसरा आसमान
दूसरे से तीसरा, तीसरे से चौथा
क्रमानुसार मापने लगता है धीरे–धीरे सारा ब्रह्माण्ड
धीरे–धीरे हवा भरने वाले की पकड़ से,
उसके धागे की पकड़ से वह छूट जाता है
और
हवा भरने वाला
मुंह में हवा लिए
दोनों गालों को फुलाये
और गुब्बारे की तलाश में खड़ा रहता है।
वह फिर से एक गुब्बारे में हवा भरेगा
आसमान में उड़ाकर हमें करतब दिखायेगा।
हम टकटकी लगाकर इसी तरह,
गुब्बारों का आसमान में उड़ना देखते रहेंगे।
मुंह फुलाकर हमारे फेफड़ों की पूरी ताकत से उनमें हवा भरते रहेंगे।

और गुब्बारे उड़ते उड़ते सात समुद्र पार करते जायेंगे
ये गुब्बारे भले ही पिचक कर और कहीं गिर जायेंगे
पर हमारे हाथ वापस ना आयेंगे।

4

गुब्बारा

गुब्बारे जो अपने देश की हवा से फूलकर ऊँची उड़ान भरते हैं।
सात आसमान पार करते हैं
पर वापस लौटकर नहीं आते कभी।
एक मलाल ही बच जाता है हमारे पास
काश–मैं अपने हाथों से कांटे चुभाकर चीथड़े–चीथड़े करता गुब्बारे के
लेकिन अंत तक बची ही रहती है यह आस
और उड़ते रहते हैं गुब्बारे।

डॉ. रमेश कुमार गोहे
सहायक प्राध्यापक, हिंदी

अपना घर

माँ ने कहा था उससे कि वह एक दिन अपने घर चली जाएगी।
जा कर वहीं वह अपना स्वछंद जीवन जी पाएगी।
बाबुल के ऑगन से एक दिन पंक्षी की तरह उड़ जाएगी।
और फिर अपनी कल्पना से वह अपना सूना आकाश सजाएगी।

पिता ने दिया उसे अपनी औकात से ज्यादा जो कुछ
वही था उसके सर्वांगीण विकास का सामान वह सब कुछ
पर एक अनजाना सा परायापन उसे पिलाया जाता था
जो उसके कोमल मन को वेदना से भर जाता था।

सब कुछ उसका होकर भी उसका कुछ नहीं था,
कर्तव्य कई थे उसके पर अधिकार नहीं था।
इसी कर्तव्य की बेल को उसे आगे बढ़ाना था,
बनाकर कर्तव्य का पेड़, उसे ससुराल को जाना था।

एक वह दिन भी आया जब, पेड़ के खरीदार आए,
उसकी छाँव, फूल, फल और पत्तों का हिसाब लगाए।
काफी मोल भाव के बाद बाबुल ने उस पेड़ को बेचा।
पर उसकी रगों में बह रही थी, स्वछंद जीने की इच्छा।

यहाँ आकर उसने इस घर को कर्तव्यों से सजाया,
स्वयं मिटकर भी उस घर को जीवन्त बनाया
पर यह क्या! कर्तव्यों के बाद आई जब अधिकारों की बारी
वह जान गई थी कि यहाँ भी उसने अपनी पारी हारी।

सूनी आँखों के इशारे से उसने अपने मन को समझाया
तू आकाश में महल की करता है, बातें?
अभी तो, मैंने अपना सच्चा घर भी न पाया।

यह घर जो ईंटों और पत्थरों का महल है,
क्या यही मेरा सच्चा और अपना घर है?

पर, यह कैसा घर, जिसे अपना कहने में भय है?
लोग सभी अपने हैं, पर जिनसे होता आत्मसम्मान का क्षय है।

माँ ने कहा था, यही अब घर है मेरा,
तो क्या एक टूटे पत्ते की तरह अब, यही अस्तित्व है मेरा?
कहने को, मैं इस पेड की हूं, पर क्या यह पेड़ है मेरा?
पर ऐ मन, कभी लाशों का भी जीवन होता है?

उनकी अभिलाषाओं के अनुरूप, कौन उन्हें अपना घर देता है?

श्रीमती मनीषा विजयवर्गीय
सहायक प्राध्यापक,शिक्षा
(अस्थायी)

VIPs
VIPs

गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)
(केंद्रीय विश्वविद्यालय)
मातृभाषा दिवस समारोह
(काव्य गोष्ठी)
21 फरवरी, 2017
आयोजक – राजभाषा प्रकोष्ठ

गुरु घासीदास विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)

केन्द्रीय विश्वविद्यालय अधिनियम 2009 के अंतर्गत स्थापित

बिलासपुर, (छत्तीसगढ़) भारत